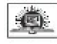
हिन्दू धर्म में वैज्ञानिक मान्यताएँ

के. वी. सिंह



हिंदू धर्म में वैज्ञानिक मान्यताएँ

के.वी. सिंह


प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
ISO 9001:2008 प्रकाशक

भूमिका

वैदिक धर्म का जो वर्तमान स्वरूप हमें आजकल देखने को मिलता है, उसे आज का तर्कशील व वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखनेवाला मानव अंधविश्वास, आस्था व रूढ़िवाद की संज्ञा देता है। यह विचारणीय है कि क्या वास्तव में हमारे धर्म की पूजा-पाठ विधि, पर्व-त्योहार, सांस्कृतिक मान्यताएँ व रीति-रिवाज केवल आस्था पर टिके हैं या फिर उनका कोई वैज्ञानिक आधार है?

प्राय: देखा गया है कि पढ़े-लिखे लोग, जो अपने को बुद्धिजीवी मानते हैं, वे धर्म की परंपरा, परिपाटी व उसके वर्तमान स्वरूप की या तो उपेक्षा करते हैं या फिर उसके प्रति व्यंग्यात्मक रवैया अपनाते हैं। उनमें से कुछ का तो यह भी मानना है कि हमारी धार्मिक मान्यताओं का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। परंतु उनकी यह सोच वास्तविकता से बहुत परे है, क्योंकि जिन लोगों ने हिंदू धर्म के मूल रूप को जाना व अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि हमारे धर्म का एक सुदृढ़ वैज्ञानिक आधार है। आवश्यकता केवल उसके मर्म और मूल स्वरूप को समझने की है।

परंतु एक बात सत्य है कि हमारे धर्म का जो स्वरूप आजकल देखने को मिल रहा है, वह इसका वास्तविक स्वरूप नहीं है। कालांतर में इसका स्वरूप कब बदल गया, हमें पता ही नहीं चला। ऐसे में धर्म के वर्तमान स्वरूप को देखकर अगर कंप्यूटर युग का मानव इसकी उपेक्षा करता है तो इसमें आश्चर्य कैसा?

भारतीय संस्कृति व धर्म के विषय में एक आश्चर्यचकित करनेवाला सत्य यह है कि इसकी बारीकियों और गहराइयों पर जितना शोध जर्मनी, चीन और अमेरिका ने किया है, उतना हम भारतीयों ने नहीं। जर्मनी और चीन के पास भारत की जितनी प्राचीन मूल पांडुलिपियाँ हैं, उतनी भारत में नहीं हैं। खेद इस बात का है कि जो कुछ भी हमारे पास है, हम उस पर भी कोई शोध नहीं कर रहे हैं।

सरकार की उदासीनता के साथ-साथ हमारे अधिसंख्य धर्मगुरु भी कुछ नहीं कर रहे। उनके विषय में यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि वे धर्मगुरु न रहकर 'धर्म-व्यापारी' बन गए हैं। बड़े-बड़े एयर कंडीशन आश्रमों में भव्य व्यास-पीठों पर बैठकर वे हमें धर्म बेचते हैं, पर धर्म का वैज्ञानिक स्वरूप नहीं बताते।

यहाँ इस पुस्तक में सनातन धर्म व भारतीय संस्कृति से जुड़ी छोटी-छोटी बातों व मान्यताओं, जिन्हें हम अंधविश्वास कहते हैं, उनके पीछे जो गहरा विज्ञान है, उसे सरल भाषा में आप और अपने आपको बुद्धिजीवी कहलानेवाले, दोनों प्रकार के लोगों के लिए सादर प्रस्तुत किया गया है, ताकि वे उस विज्ञान को न केवल जाने बल्कि भारत की भावी संतानों को समझाएँ, जिससे वे विश्व में अपनी धार्मिक धरोहर पर गर्व कर सकें।

—कर्मवीर सिंह

आभार

यह पुस्तक उन सच्चे साधु-संतों व विद्वानों के अथाह ज्ञान का परिणाम है, जिसे मैंने समय-समय पर अपने सत्तर वर्ष के जीवनकाल में देश के विभिन्न प्रदेशों से बटोरा। जो भी दुर्लभ ज्ञान-मोती मैं इस पुस्तक में संकलित कर पाया हूँ, वे सब उन्हीं महान् संतों की देन हैं। एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे सभी महात्मा व विद्वान् जहाँ अक्षय ज्ञान भंडार के स्वामी थे, वहीं वे किसी भी प्रकार की व्यक्तिगत प्रशंसा या प्रचार से दूर रहना चाहते थे। यही कारणा है कि मैं उनके नाम लिखने में असमर्थ हूँ।

इसके अतिरिक्त मैंने अपने जीवनकाल में कई पुस्तकें पढ़ीं, उनसे भी मुझे बड़ी प्रेरणा मिली है। मैं 'सनातन भारतीय संस्कृति संस्था, गोवा' के डॉ. जयंत बालाजी आठवले के प्रति अपना विशेष आभार व्यक्त करता हूँ, जिनकी पुस्तकें हिंदू धर्म के वैज्ञानिक तथ्यों को समझने में मेरे लिए बड़ी सहायक सिद्ध हुईं।

मैं उन सभी अनाम संतों, विद्वानों व लेखकों का आभारी हूँ, जिनकी वाणी या पुस्तकों ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मेरे ज्ञान को बढ़ाने में योगदान दिया है।

—कर्मवीर सिंह

भारत हजारों वर्षों से आध्यात्मिक जगद्‌गुरु क्यों रहा है

हमारा देश भारत हजारों वर्षों से आध्यात्मिक जगद्‌गुरु क्यों रहा है? चार धामों की अवधारणा भारत में ही क्यों है? क्यों नौ बार इस भूमि पर भगवान ने जन्म लिया? सैकड़ों ऋषि-मुनियों ने क्यों वेद-पुराणों की रचना यहीं पर की? और क्यों हजारों साधु-संतों ने अपनी वाणी से इस देश की धरती को गुंजायमान किया? यह सबकुछ क्या मात्र एक संयोग है या फिर इनके पीछे कोई वैज्ञानिक कारण हैं? यह एक विचारणीय विषय है।

अध्ययन करने से पता चलता है कि यह कोई संयोग नहीं है, बल्कि इसके पीछे कई वैज्ञानिक कारण हैं। सबसे मुख्य कारण भारत की भौगोलिक स्थिति है। भारत पृथ्वी के उस विशिष्ट भू-भाग पर स्थित है जहाँ सूर्य और बृहस्पति ग्रह का विशेष प्रभाव पड़ता है। खगोल व ज्योतिष शास्त्र के अनुसार सूर्य और बृहस्पति मनुष्य की आध्यात्मिकता के कारक माने जाते हैं। सूर्य व बृहस्पति से आनेवाली विशेष तरंगों का विकिरण भारत के भूभाग को गहन रूप से प्रभावित करता है। इस कारण भारत में आध्यात्मिकता का वातावरण बना रहता है। ऐसे में प्रेम, दया, सहिष्णुता यदि भारत की भूमि में कूट-कूटकर भरी है तो आश्‍चर्य कैसा?

विश्‍व के अधिकतर देशों में तीन या चार ऋतुएँ होती हैं, पर भारत एक ऐसा देश है जहाँ छह ऋतुएँ हैं—ग्रीष्म, वर्षा, शरद, शीत, वसंत व पतझड़। संभवत: इतनी ऋतुएँ अन्य किसी देश में नहीं होतीं। (पाकिस्तान, बँगलादेश भी कभी इसी भूभाग के अंग थे।) ऋतुओं का सीधा संबंध सूर्य और पृथ्वी की भौगोलिक स्थिति से होता है। यह तथ्य वैज्ञानिक भी मानते हैं। ऋतु-परिवर्तन का प्रभाव मनुष्य के मन, मस्तिष्क व शरीर तीनों पर पड़ता है। ऋतु परिवर्तन के साथ प्रकृति अपनी लय बदलती है और हमारे ऋषि-मुनियों ने प्रकृति की परिवर्तित लय से कैसे अपने तन-मन की लय को जोड़कर रखना है, यह विज्ञान जान लिया था। वे जानते थे कि ऋतु बदलने के साथ मनुष्य के शरीर का रसायन भी बदल जाता है। इसलिए उन्होंने ऋतु परिवर्तन के साथ कई पर्व और त्योहार जोड़ दिए, जिनके दौरान मनुष्य उपवास रखकर अपने शरीर के रसायन पर नियंत्रण रखता था। यही नहीं, उपवास के बाद क्या खाना चाहिए, इसका भी उन्होंने प्रावधान किया। इन सबके पीछे वैज्ञानिक तथ्य यह था कि मनुष्य अपने शरीर की लय को प्रकृति की लय से जोड़कर रखे। ध्यान देनेवाली बात है कि हिंदू पर्व और त्योहार प्राय: विशेष दिनों पूर्णिमा, अमावस्या या शुक्ल पक्ष के दौरान ही मनाए जाते हैं।

हमारे ऋषि-मुनियों ने एकादशी के दिन उपवास रखने पर बहुत जोर दिया है। इसके पीछे एक बड़ा वैज्ञानिक कारण है। मनुष्य के शरीर में एक महीने के दौरान लगभग दो बार उसका रसायन प्रभावित होता है। दस दिन भोजन करने से जो पौष्टिक रस शरीर में बनता है, एकादशी के दिन मानव शरीर उसे अपने अलग-अलग अंगों को बाँटता है। शरीर उस रस को सुचारु रूप से बाँट सके, इसलिए एकादशी के दिन उपवास की मान्यता है। शरीर का इतना बारीक अध्ययन अभी तक आधुनिक वैज्ञानिकों ने नहीं किया है, इसलिए वे उपवास के पीछे जो वैज्ञानिक गहराई है, उसे नहीं समझते और इस प्रकार की बातों को 'व्यर्थ' की संज्ञा दे देते हैं।

प्राचीन काल में ऋतु-फल के सेवन पर सनातन पद्धति में बहुत बल दिया जाता था। इसके पीछे का विज्ञान यह था कि प्रकृति ऋतु परिवर्तन के समय जो फल देती है, उसमें पैदा होनेवाले फल व सब्जियों में विशेष प्रकार का रसायन होता है, जो वे सूर्य से लेते हैं, वह रसायन मनुष्य के शरीर और स्वास्थ्य के लिए बहुत लाभदायक एवं

महत्त्वपूर्ण होता है। ऋतु काल में यदि कोई मनुष्य पंद्रह दिन लगातार १०-१२ जामुन का सेवन करे तो उसके अग्न्याशय को शक्ति मिलती है और वह डायबिटीज का रोगी नहीं बनेगा। इसी प्रकार, ऋतुकाल में यदि कोई व्यक्ति तीस दिन पीपल के वृक्ष के ५ फल नित्य खाए तो उसकी स्मरण-शक्ति तीव्र हो जाती है। ये सब बातें अंधविश्वास नहीं अपितु वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित हैं। आयुर्वेद यह परीक्षण हजारों वर्ष पूर्व कर चुका था।

खेद की बात तो यह है कि आजकल तो ऋतु-फल का कोई अर्थ ही नहीं रह गया है, क्योंकि कृत्रिम खाद व इंजेक्शनों द्वारा पूरे साल मौसम-बेमौसम की सब प्रकार की फल-सब्जियाँ उपलब्ध रहती हैं। पहले प्राकृतिक खाद का इस्तेमाल होता था और ऋतु व प्रकृति दोनों का स्वाभाविक प्रभाव फल-सब्जियों पर पड़ता था। इसलिए उनके सेवन से ही लाभ होता था। यह एक वैज्ञानिक सत्य है, कोई अंधविश्वास नहीं। यही कारण है कि फिर से आर्गेनिक फल-सब्जियाँ उगाई जाने लगी हैं, पर वे इतनी महँगी हैं कि आम आदमी की पहुँच से दूर हैं।

ऋतु परिवर्तन के समय मनुष्य के शरीर के रसायन बदलते हैं, साथ ही उसके शरीर में स्थित विशेष सूक्ष्म शरीर के चक्रों पर भी असर होता है। इसलिए ऋषि-मुनि उन दिनों उसी चक्र पर अधिक ध्यान देते थे जिस पर ऋतु विशेष का प्रभाव पड़ता था और वे इस प्रकार अपना आध्यात्मिक विकास करते थे। इस प्रकार भारत की छह ऋतुएँ हमारे आध्यात्मिक विकास में सहयोगी रही हैं।

भारत की आध्यात्मिकता के पीछे एक और बड़ा कारण यह है कि यहाँ दो महत्त्वपूर्ण पर्वत श्रृंखलाएँ हैं—एक अरावली और दूसरी हिमालय। यह एक अनुमोदित सत्य है कि अरावली विश्व की प्राचीनतम पर्वत-श्रृंखला है और हिमालय विश्व की सबसे तरुण। यह कोई मात्र संयोग नहीं है कि दुनिया की प्राचीनतम व तरुण दोनों श्रृंखलाएँ भारत में ही हैं। इसके पीछे भी प्रकृति का अपना प्रयोजन है।

अरावली संसार की सबसे परिपक्व पर्वत-श्रृंखला होने के कारण प्रकृति के 'अग्नि-तत्त्व' का प्रतिनिधित्व करती है, जबकि 'हिमालय' प्रकृति के जल-तत्त्व का द्योतक है। मनुष्य के शरीर के लिए ये दोनों तत्त्व अति आवश्यक हैं। दोनों पर्वत श्रृंखलाओं ने भारत की संस्कृति को पनपने में अपना विशेष योगदान दिया है। जिन लोगों ने अपने आध्यात्मिक विकास के लिए जल-तत्त्व को प्रधानता दी, वे जीवन के रहस्यों की खोज में हिमालय की गोद में चले गए और वहाँ प्रकृति के रहस्यों को खोजा व जाना। जिन जिज्ञासुओं ने अग्नि-तत्त्व को प्रधानता दी, वे अरावली के आँचल में चले गए और तपस्या की। हिमालय के मनीषी ऋषि कहलाए और अरावली के मुनि; पर दोनों ने ही जीवन के रहस्यों का विज्ञान खोजा और जाना।

अरावली और हिमालय के अतिरिक्त भारत की सप्त नदियों ने यहाँ के जनमानस को बड़ा प्रभावित किया है। इन सप्त नदियों में अलग-अलग देवताओं के तत्त्व प्रधान हैं, जैसे—गंगा में शिव-तत्त्व, गोदावरी में राम, यमुना में कृष्ण, सिंधु में हनुमान, सरस्वती में गणेश, कावेरी में दत्तात्रय और नर्मदा में माँ दुर्गा के तत्त्व विद्यमान हैं। सप्त नदियों में गंगा सबसे विशिष्ट है, जिसकी महत्ता विस्तार से पुस्तक में आगे वर्णन की गई है। एक और ध्यान देने योग्य बात यह है कि सूर्य और चंद्र ग्रहण के समय इन नदियों में स्नान करना आध्यात्मिक दृष्टि से उत्तम माना गया है, क्योंकि उस समय सूर्य व चंद्रमा का पृथ्वी पर विशेष गुरुत्व आकर्षण होता है। हिंदू मनीषियों ने उस समय विशेष मंत्रों का जाप भी बताया है।

भारत के कुछ पेड़-पौधों ने भी भारत की आध्यात्मिकता में बड़ा योगदान दिया है। तुलसी का पौधा भारत के घर-आँगन का एक अभिन्न अंग रहा है। वैज्ञानिक भी अब इस तथ्य को स्वीकारते हैं कि तुलसी एक बहुत ही संवेदनशील पौधा है। यदि तुलसी के आस-पास थोड़ी सी भी नकारात्मक या तीव्र गंध हो तो यह पौधा मुरझा जाता है। जिन घरों में तुलसी का पौधा नहीं लगता या पनपता या मुरझा जाता है तो समझ लीजिए कि उस घर का

वातावरण दूषित है। इस दृष्टि से तुलसी का पौधा घर की आध्यात्मिकता का मापदंड भी है।

नीम का वृक्ष भी घर के आस-पास की नकारात्मकता को दूर करने में सहायक होता है। पीपल के वृक्ष की तो बात ही निराली है। यह वृक्ष भारतीय संस्कृति और इतिहास दोनों का अभिन्न अंग है। संभवत: इसीलिए भारत के सर्वोत्तम पुरस्कार 'भारत रत्न' को काँस्य से बने पीपल के पत्ते के रूप में प्रदान किया जाता है। यह एक वैज्ञानिक सत्य है कि वातावरण की शुद्धि के लिए ऑक्सीजन बहुत आवश्यक है, पर शायद हममें से कई यह नहीं जानते कि पीपल एक ऐसा वृक्ष है जो चौबीसों घंटे प्राणदायी ऑक्सीजन छोड़ता है। संसार की समस्त वनस्पतियों की बात करें तो वृक्षों में पीपल और पौधों में केवल तुलसी ही ऐसे हैं जो रात-दिन ऑक्सीजन देते हैं। भारत के प्राचीन मनीषियों ने इसीलिए इन दोनों को चुनकर समाज का अंग बनाया। यह चयन कोई संयोग नहीं था, अपितु वैज्ञानिक कारणों से उन्होंने ऐसा किया। यह बात अलग है कि आज हम इनके महत्त्व को केवल अंधविश्वास व दकियानूसी धारणा कहते हैं।

इन दोनों वनस्पतियों का आध्यात्मिक दृष्टि से भी काफी महत्त्व है। तुलसी के सतत उपयोग और पीपल के आस-पास सतत रहने तथा उसके स्पर्श से मनुष्य के सात्त्विक गुणों का विकास होता है और शारीरिक व मानसिक क्षमता भी बढ़ती है। पीपल व तुलसी दोनों के महत्त्व को पुस्तक में अलग से आगे वर्णित किया गया है।

इस प्रकार भारत की आध्यात्मिकता के पीछे उसकी भौगोलिक विशिष्ट स्थिति, अरावली व हिमालय पर्वत श्रृंखलाओं, सप्त नदियों, छह ऋतुओं तथा विशेष वनस्पतियों का बहुत बड़ा हाथ है। इन्हीं कारणों से भारत में आध्यात्मिकता सदा से बनी रही है। वर्तमान समय में भी अन्य देशों की अपेक्षा भारत में आध्यात्मिकता अधिक है। ऐसे में यदि अमेरिका, इंग्लैंड, जर्मनी, जापान आदि से लोग शांति की खोज में भारत आ रहे है तो आश्चर्य कैसा?



वैदिक धर्म के मूल रूप से परिचय

आज के इस कंप्यूटर और स्पुतनिक युग में मानव का जीवन पूर्णतया विज्ञान से जुड़ा है। उसके जीवन के लगभग सभी कार्य ऐसी मशीनों और यंत्रों से होते हैं, जिनका सीधा संबंध विज्ञान से है। इसलिए जो विज्ञान की कसौटी पर खरा नहीं उतरता, वह उसे ढकोसला और अंधविश्वास लगता है। अपनी इस विचारधारा व धारणा के लिए आधुनिक मानव पूर्णरूप से दोषी नहीं है, क्योंकि इन सबके बारे में मोबाइल फोन से बात करनेवाले और ए.सी. कारों में घूमनेवाले न तो आज के पंडित लोग ही बताते हैं और न ही हमारे शिक्षा संस्थानों में पढ़ानेवाले शिक्षक। ऐसे में यदि हमें अपने धर्म की मान्यताओं के पीछे जो विज्ञान है, उसका पता नहीं है तो आश्चर्य कैसा?

ज्ञान के इस अभाव को दूर करने के लिए हमें पहले अपने धर्म के मूल स्वरूप से परिचित होना होगा, तभी हम अपनी धार्मिक मान्यताओं के विज्ञान को भलीभाँति समझ सकेंगे और आनेवाली पीढ़ी को उसके बारे में बता सकेंगे।

सनातन धर्म की पहली विशेषता यह है कि विश्व में आज जितने भी धर्म हैं, यह उनमें सबसे प्राचीनतम है। इसके साथ जो अन्य धर्म जनमे व पनपे, वे या तो लोप हो गए या फिर छिन्न-छिन्न। हमारे धर्म की निरंतरता के पीछे जो कारण है, वह है इसकी विश्वव्यापी सुगम्यता। इसका आँचल केवल किसी जाति विशेष या समाज विशेष के लिए नहीं था। इसके मंत्रों में यह भाव निहित था कि सारा विश्व ही एक परिवार है (वसुधैव कुटंबकम्) और संसार के सभी प्राणियों का कल्याण हो (लोक: समस्त: सुखनो भवन्तु)। ऐसी सुंदर भावनाएँ थीं उन मंत्रों में। ये मंत्र केवल भारतभूमि के धर्म में आस्था रखनेवालों के लिए ही नहीं थे, अपितु संसार के समस्त प्राणियों के कल्याण हेतु बने थे। ऐसी व्यापक विश्व-कल्याणकारी विचाराधारा विश्व की अन्य किसी धार्मिक आस्था में देखने को नहीं मिलती। हमने सभी धर्मों का आदर किया और सभी को स्वीकार भी किया। यही कारण है कि हमारे धर्म में आज भी निरंतरता गतिमान है।

दूसरी विशेषता हमारे धर्म की यह है कि इसकी आधारशिला किसी एक व्यक्ति विशेष या एक धर्मग्रंथ विशेष पर आधारित नहीं है। इसके तो अनगिनत आधार-स्तंभ हैं; जैसे वेद-पुराण, रामायण-गीता और असंख्य धर्मशास्त्र व मीमांसाएँ। यदि इनमें से हम कुछेक आधारों को हटा दें या नकार दें, तो भी हमारे धर्म की आधारशिला ज्यों-की-त्यों अडिग बनी रहेगी। धर्म की हमारी यह विशेषता हमें अमरत्व प्रदान करती है।

तीसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता हमारे धर्म की यह है कि इसका जन्म प्रकृति के भय से या फिर सामाजिक परिस्थितियों के कारण (जैसा विश्व के अन्य धर्मों के इतिहास में प्राय: देखा गया है) नहीं हुआ है। इसका जन्म तो प्रकृति के गूढ़ रहस्यों का गहन अध्ययन करके, ब्रह्मांड के विज्ञान का पूर्णतया शोध करके और जानने के बाद ही हुआ है। इसके अतिरिक्त एक और ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि भारत के मुनियों ने प्रकृति के रहस्यों का अध्ययन व ब्रह्मांड के विज्ञान का ज्ञान-अर्जन कुछ सीमित वर्षों में नहीं किया, इसे अर्जित करने के पीछे कई पीढ़ियों का योगदान व अनुभव रहा है। यही नहीं, यह योगदान व अनुभव भी किसी एक व्यक्ति विशेष का नहीं था, यह ज्ञानार्जन तमाम ऋषि-मुनियों के चिंतन-मनन का परिणाम है। धर्म का इतना विस्तृत आधार विश्व में अन्यत्र देखने को नहीं मिलता।

भारत के सनातन ऋषि-मुनियों ने प्रकृति के हर रहस्य को गहराई से देखा और प्रकृति की घटनाओं के विज्ञान को समझा। फिर उस ज्ञान को उन्होंने पहले मौखिक रूप से समाज को दिया और कालांतर में धर्मग्रंथों में समाहित किया। भारत के मनीषियों ने वनस्पति, पशु-पक्षी, जीव-जंतु, ग्रह-नक्षत्र, आत्मा-परमात्मा व ब्रह्मांड के रहस्यों का

सम्यक् अध्ययन किया, फिर मनुष्य के जीवन पर पड़नेवाले उसके प्रभाव को जाना। यही नहीं, इस सबके वैज्ञानिक तथ्य को भी समझा। यही कारण है कि हमारी धार्मिक मान्यताएँ विज्ञान के ठोस आधार पर टिकी हैं, न कि ढकोसलों पर। यह बात अलग है कि आज हम उस वैज्ञानिक आधार से अनभिज्ञ हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम उस आधार को खोजें।

सच तो यह है कि विश्व की अन्य किसी और धार्मिक आस्था में प्रकृति व मनुष्य का इतना गूढ़ अध्ययन नहीं हुआ है। मनुष्य को क्या करना और क्या नहीं करना चाहिए, क्या खाना और क्या नहीं खाना चाहिए, क्या सोचना और क्या नहीं सोचना चाहिए—इन सब छोटी-बड़ी बातों का हमारे धर्मग्रंथों में विस्तार से वर्णन किया गया है। पशु-पक्षियों पर अनुसंधान करके मनुष्य के स्वास्थ्य लाभ के लिए अनेक योगासन बनाए गए और उन्हीं के नाम पर उन योगासनों का नाम रखा गया; जैसे कुक्कुटासन, मयूरासन, सर्पासन आदि।

यही नहीं, जब भारत के मनीषियों ने धर्म के नियम व मान्यताओं को समाज को दिया तो इस बात का भी पूर्णतया ध्यान रखा कि धर्म आचरण करते समय धर्म के अनुयायियों से कोई ऐसा कार्य न हो जो प्रकृति के नियमों के विरुद्ध हो। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि मनुष्य के सब कार्य ऐसे हों, जिससे मनुष्य और प्रकृति में सदा समन्वय बना रहे तथा धर्म आचरण करते समय मनुष्य व प्रकृति की लयबद्धता बनी रहे। आज मनुष्य की कई समस्याएँ इस कारण भी हैं कि उसने प्रकृति से अपनी लय को तोड़ दिया है। हमारी कई आधुनिक समस्याओं का मूल कारण यही है कि हमने विज्ञान और आधुनिकता के नाम पर ऐसे कई आविष्कार किए हैं, जिन्होंने मनुष्य, प्रकृति व ब्रह्मांड के आपस के संतुलन को बिगाड़ दिया है।

आज के विज्ञान ने हमें सड़क पर तेज दौड़नेवाली मोटरकार दी, तेज गति से उड़नेवाले हवाई जहाज दिए, पर साथ में दिया वायु-प्रदूषण, जिसका परिणाम हम सभी जानते हैं। परमाणु ऊर्जा के इस्तेमाल के साथ उसका परिणाम भी जुड़ा हुआ है। आज का वैज्ञानिक एक अंतरिक्ष यान छोड़ता है तो कितना ईंधन जलता है और कितना वायु प्रदूषण होता है, सोचने की बात है। परिणाम 'ग्लोबल वार्मिंग' के रूप में हमारे समक्ष है। आज के विज्ञान ने सुख तो दिया है पर दुख उससे कहीं ज्यादा, जिसका मुख्य कारण है उसके द्वारा की गई प्रगति का प्रकृति से विरोध। जबकि पहले भारत की संस्कृति ने प्रकृति से अपनी लय को भी बनाए रखा था। यही अंतर है हमारी सनातन और आधुनिक प्रगति में। एक में प्रकृति का साथ है तो दूसरी में अलगाव।

सौर मंडल में कौन-कौन से ग्रह हैं, उनका पृथ्वी व सूर्य से कितना-कितना अंतर है, नक्षत्रों की स्थिति व गति क्या है—इन सब जटिल प्रश्नों के उत्तर जानने के लिए सनातन ऋषि-मुनियों ने उपग्रह या अंतरिक्ष यान नहीं छोड़े थे। इन सब प्रश्नों के उत्तर उन्होंने अपनी ध्यानावस्था में और वैदिक गणित के आधार पर जान लिये थे। भारत में आज भी हम गणित के आधार पर सूर्यग्रहण व चंद्रग्रहण की तिथि आज के वैज्ञानिकों से पहले लगा लेते हैं।

एक कटु सत्य—धर्म का जो आधुनिक रूप हमें आज देखने को मिलता है, वह ढकोसला ही है, क्योंकि आजकल जो धर्म के ठेकेदार, धर्मगुरु और प्रवचनकर्ता हैं, उनमें से अधिकतर सनातन धर्म के मर्म व मूल को जानते ही नहीं, इसीलिए वे अपने अनुयायियों को सत्य-मार्ग नहीं दिखा पाते। उन्हें तो बस रामायण, महाभारत व वेद-पुराणों की कथाएँ व प्रसंग याद हैं, जिन्हें वे चटपटी भाषा में भोली जनता को सुनाकर वाहवाही लूटते हैं। एक महीने का ज्योतिष का कोर्स करके जो ज्योतिषी बन जाते हैं, वही भारत के सनातन धर्म की, इस विज्ञान की खिल्ली उड़वाते हैं। आज भारत के ८० प्रतिशत राजनेताओं, बड़े व्यापारियों और उच्च अधिकारियों के हाथों की अंगुलियों में रत्नों की मूल्यवान् अँगूठियाँ हैं, पर उन्होंने उन रत्नों को धारण करने की पूरी परिपाटी या विधान का पालन नहीं किया होता। फिर इन रत्नों से लाभ कैसे होगा? ऐसे में यदि कोई यह कहे कि ये सब पत्थर पहनना मात्र

अंधविश्वास है, तो गलत क्या है? रत्नों के विज्ञान को जाने बिना रत्न मात्र एक पत्थर ही तो है। टी.वी. पर ३० सेकंड में जन्मतिथि पूछकर जो ज्योतिषी अमुक रत्न पहनने को कहते या सलाह देते हैं, वे रत्न-विज्ञान को उपहास का पात्र बनाते हैं।

ऊँचे-ऊँचे भव्य सिंहासन जैसे व्यास-पीठों पर बैठकर टी.वी. पर 'धर्म बेचनेवाले' धर्मगुरु धर्म के नाम पर भोली जनता को गुमराह कर अंधविश्वासी बना रहे हैं। शरीर को तोड़-मरोड़कर दस योगासन करवा देना पतंजलि का योग नहीं है। उसके लिए मन-शरीर की शुद्धि, बुद्धि पर नियंत्रण भी तो ऋषि पतंजलि ने बताए हैं, फिर वह सब क्यों नहीं बताते? आज बाजार में हवन के लिए न शुद्ध सामग्री है, न शुद्ध देसी गाय का घी, न शुद्ध समिधाएँ और न ही मंत्रों का शुद्ध उच्चारण करनेवाले कर्मकांडी ब्राह्मण। ऐसे में यदि हवन करने पर कोई लाभ न हो तो आश्चर्य क्यों? ऐसे कर्मकांड को तो ढकोसला व अंधविश्वास की ही संज्ञा दी जाएगी। पर इन सबका यह अर्थ कदापि नहीं कि हमारी धार्मिक धारणाएँ बिना किसी वैज्ञानिक आधार के हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम उन्हें सही ढंग से समझें और अपनी युवा पीढ़ी को भी समझाएँ।



पौराणिक कथाओं में छुपा है

तार्किक गूढ़ ज्ञान

लोग प्राय: अखंड रामायण का पाठ, श्रीमद्भागवत सप्तक और गरुड़पुराण आदि का पाठ करवाते हैं। इन पाठों के माध्यम से हम अनेक कथा-कहानियाँ सुनते हैं। पर सच्चाई यह है कि वे कथा-कहानी मात्र कथा नहीं हैं। यदि हम अपने को कहानी के स्तर तक ही सीमित रखते हैं तो हम उन कथाओं के विज्ञान को नहीं समझ सकेंगे। इस तथ्य को और अधिक स्पष्ट करने की दृष्टि से श्रीमद्भागवत की एक कथा 'सात गाँठ का बाँस' और उसमें छिपा विज्ञान यहाँ प्रस्तुत है।

श्रीमद्भागवत में एक पौराणिक कथा है कि आत्मदेव नामक एक ब्राह्मण था, जिसकी कोई संतान नहीं थी। उसकी पत्नी धुंधुली अति सुंदर थी, लेकिन वह सोचती थी कि माँ बनने से उसका सौंदर्य नहीं रहेगा। इसलिए वह माँ बनना नहीं चाहती थी।

एक दिन आत्मदेव तालाब के किनारे उदास बैठा था। वहाँ एक संन्यासी से उसकी भेंट हुई। आत्मदेव ने संन्यासी के पाँव छूकर पुत्र की प्राप्ति का वरदान माँगा। संन्यासी ने उसे बहुत समझाया कि पुत्र की प्राप्ति उसके लिए शुभ नहीं होगी, लेकिन आत्मदेव ने हठ किया तो संन्यासी ने उसे एक फल दिया, जिसके खाने से उसकी पत्नी चिंता में पड़ गई। उसने पति से कहा कि वह रात में यह फल खा लेगी; लेकिन उसने खाया नहीं।

संयोगवश उन्हीं दिनों धुंधुली की बहन उससे मिलने आई हुई थी, तो उसने अपने मन की चिंता बहन के सामने रख दी। बहन गर्भवती थी, लेकिन बहुत गरीब थी। उसने धुंधुली से कहा, ''मैं अपना बच्चा चोरी से तुम्हें दे जाऊँगी, तुम सबसे यही कहना कि वह तुम्हारे यहाँ पैदा हुआ है। बस तुम इतना करो कि अपना बहुत सा धन मुझे दे दो, क्योंकि हम बहुत गरीब हैं, ताकि बच्चे का लालन-पोषण ठीक से कर सकें।''

धुंधुली ने वही किया और वह फल अपनी गाय को खिला दिया। समय आने पर अपनी बहन का बेटा लेकर उसने सबसे कह दिया कि उसके यहाँ पुत्र का जन्म हुआ है।

कुछ समय पश्चात् जिस गाय को वह फल खिलाया था, उसके एक बछड़ा पैदा हुआ, जिसकी काया मनुष्य जैसी थी, किंतु कान गाय जैसे थे, जिससे आत्मदेव ब्राह्मण ने उसका नाम 'गोकर्ण' रख दिया।

वे दोनों बच्चे एक ही घर में बड़े होने लगे। गोकर्ण तो विद्वान् बनता गया, लेकिन धुंधुली ने जो बच्चा बहुत-सा धन देकर खरीद लिया था, वह मूर्ख और लंपट बनता चला गया। आत्मदेव ने उस बेटे से दु:खी होकर घर छोड़ दिया और वन में तपस्या करने लगा। धुंधुली को जब उस बेटे ने बहुत सताया तो एक दिन उसने कुएँ में कूदकर अपनी जान दे दी।

यह धूर्त बेटा वेश्याओं की माँग पूरी करने के लिए बड़ी-बड़ी चोरियाँ करने लगा। एक दिन उसकी सारी दौलत छीनकर वेश्याओं ने उसे मार डाला। मरने के बाद वह प्रेत-योनि में पड़कर तड़पने लगा।

उधर गोकर्ण ने वन में जाकर घोर तपस्या की। बाद में जब वह एक बार अपने गाँव लौटा तो उस रात वह वहीं ठहरा, जहाँ उसका जन्म हुआ था। वह प्रेत भी वहीं उस घर में रहता था। वह गोकर्ण के पास बैठकर रोने लगा।

गोकर्ण को उस पर दया आ गई, इसलिए सुबह होने पर उसने सात दिन का व्रत लिया कि वह प्रतिदिन श्रीमद्‌भागवत का पाठ करेगा और उसने प्रेत से कहा कि वह हर रोज एक कोने में बैठकर उसे ध्यान से सुने। इससे उसकी मुक्ति हो जाएगी और वह प्रेत-योनि से छूट जाएगा।

गाँव के लोग भी गोकर्ण के घर प्रतिदिन आते और कथा सुनते। वहीं घर के आँगन में एक बाँस गड़ा हुआ था। जिसकी सात गाँठें थीं। प्रेत तो वायु रूप होता है, इसलिए वह बाँस के एक छिद्र में से घुसकर बाँस में बैठ जाता और प्रतिदिन गोकर्ण की व्याख्या सुनता। कथा समाप्त होने पर पहले दिन एक विचित्र घटना हुई, जो सब गाँववालों ने भी देखी। प्रवचन समाप्त होते ही बाँस की एक गाँठ फट गई। दूसरे दिन दूसरी गाँठ फट गई, और इस तरह सात दिन में सातों गाँठें फट गईं। यह बात केवल गोकर्ण ही जानता था। सातवें दिन उसकी प्रेत-योनि से मुक्ति हो गई।

गाथा विज्ञान— इस कथा में छिपा जो गूढ़ ज्ञान है, वह यह है कि इस कथा में बाँस की सात गाँठें इनसान के अंतर-चेतना की सात अवस्थाएँ हैं। ज्ञान-प्राप्ति के साथ-साथ अज्ञान की एक-एक गाँठ का खुलते जाना ही बाँस की एक-एक गाँठ का फटते जाना है। हमारे भारतीय चिंतन में इन्हें महा-चेतना की सात धाराएँ कहा गया है। इन्हीं को योग-शास्त्र में मनुष्य के सात शरीर कहा गया है—स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, अति सूक्ष्म शरीर, मनस शरीर, आत्मिक शरीर, ब्रह्म शरीर और निर्वाण शरीर।

यही मनुष्य की सात मूर्च्छित शक्तियाँ हैं, जिन्हें चेतन यंत्र से क्रियाशील करना होता है, संकल्पशील करना होता है व संवेदनशील करना होता है। इस पौराणिक गाथा का उद्‌देश्य मनुष्य को अज्ञान की प्रेत-योनि से मुक्त कराना है। यहाँ मन में एक प्रश्न उठ सकता है कि मात्र कथा सुनने से किसी प्राणी की प्रेत योनि से मुक्ति कैसे हो सकती है? इसके पीछे जो विज्ञान है, वह ध्वनि और श्रवण शक्ति पर आधारित है। संस्कृत मूल रूप में श्रवण-भाषा ही थी, इसीलिए इसे 'श्रुति' कहा जाता था। इस भाषा के शब्द उच्चारण को केवल सुन लेने से ही प्राणी पर आंतरिक प्रभाव पड़ता है। बस इसी विज्ञान के आधार पर उस दुष्ट प्रेत-आत्मा ने मुक्ति पाई।

इन सात परतोंवाली चेतना को 'सप्त वाणी' कहते हैं। यदि हम इस चिंतन की गहराई में और उतर जाएँ, तो देख सकते हैं कि हमारा प्राचीन चिंतन एक-एक चेतना की सात-सात परतें मानता है, जिसे एक सप्तक कहा जाता है और यह सप्तक अपनी सात-सात परतों को लिये हुए उनचास तत्त्व बनता है (७ × ७=४९) जिनका पचासवाँ तत्त्व महाचेतना है। उसे जोड़कर पूरे ब्रह्मांड को पचास तत्त्वीय ब्रह्मांड का नाम दिया गया है।

इस प्रकार यह सात गाँठोंवाले बाँस की कथा अपने में पूरे ब्रह्मांड के विज्ञान को समोए हुए है।

पुराण में एक और कहानी कही जाती है कि शुंभ और निशुंभ दो भाई थे, जो मृत्यु पर विजय पाना चाहते थे। उन्होंने देवताओं की आराधना की। देवताओं ने उन्हें वर माँगने के लिए कहा। उन्होंने वर माँगा कि वे मृत्यु को प्राप्त न हों। तब देवताओं ने कहा, ''आत्मा कभी मरती नहीं, इसलिए यह वरदान तो आपको मिल चुका है।'' किंतु ऐसा कोई वरदान देना देवताओं के बस में नहीं था। यह जानने के पश्चात् शुंभ और निशुंभ ने देवताओं से कहा, ''फिर हमें यह वरदान दीजिए कि किसी पुरुष शक्ति के हाथ से हमारी मृत्यु न हो। वह चाहे मनुष्य हो, देवता हो, राक्षस हो या पशु-पक्षी हो।''

उन्हें यह वरदान मिल गया। इसके पश्चात् उन्होंने पृथ्वीवासियों पर इतने अत्याचार किए कि समाज की व्यवस्था ही चरमरा गई। यह देख देवताओं ने स्त्री-शक्ति को अर्थात् माँ के रूप में दुर्गा को जाग्रत्-अवतरित किया, जिनके हाथों शुंभ और निशुंभ का अंत संभव हो सका।

भारतीय चिंतन के अनुसार ईश्वर अर्ध-नारीश्वर है, उसका आधा भाग पुरुष होता है और आधा नारी। आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी मनुष्य के मस्तिष्क का बायाँ भाग पुरुष और दाहिना भाग नारी-शक्ति की ओर संकेत करता

है। इन दोनों को जाग्रत् और संतुलित करके देवताओं ने समाज को व्यवस्थित किया। यही इस कथा का गूढ़ रहस्य है।



'ओ३म' अब विश्व उच्चार रहा है

ओ३म् (ॐ) सनातन धर्म की आत्मा है। यह एकाकी शब्द उस अनादि ध्वनि की प्रतिध्वनि है जो सृष्टि के निर्माण के समय प्रतिध्वनित हुई थी। इस कारण इसे शब्द-ब्रह्म भी कहा गया है। ब्रह्मांड के निर्माण के समय जो ध्वनि गुंजित हुई थी, ओ३म् की ध्वनि उस गूँज के निकटतम है। जब कोई व्यक्ति एकाग्र मन से इस शब्द का सतत उच्चारण करता है तो इसकी प्रतिध्वनि की गूँज का स्पंदन उस मनुष्य के शरीर के चारों ओर एक वर्तुल घेरा बना देता है, जिसके फलस्वरूप उस व्यक्ति पर अनुकूल आध्यात्मिक प्रभाव पड़ता है। इसीलिए वैदिक मंत्रों का पहला अक्षर या शब्द 'ओ३म्' से प्रारंभ होता है। इस शब्द के उच्चारण से लयबद्ध तरंगें निकलती हैं, जिनमें सृजन शक्ति होती है और ये मनुष्य को रचनात्मक बनाती हैं। यही कारण है कि अमेरिका, इंग्लैंड, जर्मनी, जापान में लोग इसका उच्चार कर रहे हैं।

'ॐ' एक एकाक्षर मंत्र है, जिसके पीछे शाब्दिक-शक्ति (Acoustic) का विज्ञान है। वैज्ञानिक भी अब इस बात की पुष्टि करते हैं कि संसार की सृष्टि के समय एक भीषण ध्वनि पैदा हुई थी, जिसे वे अपनी आधुनिक भाषा में 'बिग-बैंग' (Big bang) के नाम से जानते हैं। भारत के मनीषियों ने इस अनादि शब्द की प्रतिध्वनि हजारों वर्षों पूर्व अपनी गूढ़ ध्यानावस्था में सुनी थी, जिसे उन्होंने बाद में समाज के लोगों के कल्याणार्थ मंत्र के रूप में दे दिया।

यों तो ओ३म् शब्द की व्याख्या में बहुत कुछ और लिखा जा सकता है, पर इस शब्द के पीछे जो वैज्ञानिक सत्य व तथ्य है, मात्र उसका ही यहाँ वर्णन किया गया है।



स्वास्तिक का महत्त्व जर्मनी में भी

ओ३म् की भाँति स्वास्तिक का चिह्न भी भारतीय संस्कृति से अनादि काल से जुड़ा है। यह मात्र धार्मिक प्रतीक नहीं है अपितु एक वैज्ञानिक सशक्त चिह्न है। इसके पीछे कालचक्र का विज्ञान है, पर इसे निर्मित करने व बनाने की सामग्री का विशेष विधान है। यदि स्वास्तिक चिह्न विधि के अनुसार और वांछित सामग्री से निर्मित नहीं होगा तो यह मात्र एक रेखा चिह्न बनकर ही रह जाएगा।

इसकी रचना की सही विधि के लिए पहले आप पाँच सामग्रियों का मिश्रण तैयार करें—गंगाजल, गोमूत्र, कुमकुम, हलदी एवं केसर। इस मिश्रण से स्वास्तिक का चिह्न पूजा-कक्ष या घर के द्वार पर दोनों ओर, शयन-कक्ष में या फिर जमीन पर किसी उचित स्थान पर बनाएँ। इन पाँचों पदार्थों में शुद्धीकरण व आकर्षण शक्ति विद्यमान हैं, जो इस चिह्न को जाग्रत् करती हैं।

वैसे यहाँ यह बताना प्रासंगिक होगा कि जर्मनी में भी इस चिह्न का बड़ा महत्त्व रहा है। नाजी जर्मनी के समय में तो यह उनका राजकीय चिह्न था।

स्वास्तिक बनाते समय पहले एक रेखा पूर्व से पश्चिम की ओर तथा दूसरी रेखा पहली रेखा को मध्य से काटते हुए उत्तर से दक्षिण की ओर समान रूप से खींचकर धन (+) का चिह्न बनाएँ और फिर उसे स्वास्तिक का आकार दें। बाद में स्वास्तिक के बीच अर्थात् धन के चिह्न के चारों ओर रेखाओं के बाहर बीचोबीच एक-एक बिंदी लगाएँ। ध्यान रहे, स्वास्तिक उलटा न बने। उलटे स्वास्तिक का अर्थ होगा समय-चक्र को उलटा चलाना, जो अशुभ है। चिह्न को ध्यान से देखने पर आपको पता चलेगा कि इसकी भुजाएँ घड़ी की सुई की तरह (क्लॉक वाइज) बाईं ओर से दाईं ओर घूमती हैं। इस प्रकार से बना स्वास्तिक चिह्न २७ नक्षत्रों की ऊर्जा को एकत्रित कर आपके चारों ओर फैलाता है। स्वास्तिक का चिह्न बनाकर, उस पर आसन बिछाकर बैठने से मन को शांति प्राप्त होती है और ध्यान लगाना आसान होता है, पर शर्त यह है कि स्वास्तिक विधिपूर्वक बना हो।

हिंदू और जैन धर्म में आस्था रखनेवाले लोग स्वास्तिक का प्रयोग करते हैं। स्वास्तिक शब्द संस्कृत के शब्द स्वा + अस्ति के योग से बना है, जिसका अर्थ सौभाग्य और कल्याण है। इसी कारण, आजकल इस चिह्न के साथ शुभ एवं लाभ शब्द लिखे देखे जाते हैं।

स्वास्तिक का चिह्न मोहनजोदड़ो सभ्यता की खुदाई में पाई गई प्रतीक मुद्राओं (Seal) पर भी अंकित पाया गया है। जैन अनुयायी इसे अपने सातवें तीर्थंकर का प्रतीक मानते हैं और इसकी चार दिशाओं को मनुष्य के निर्वाण की चार अवस्थाएँ, जबकि हिंदू इनमें चार पुरुषार्थ, चार वेद, चार धाम और चार देव—ब्रह्मा, विष्णु, महेश व गणेश को देखते हैं।



ऋषि-मुनियों की भाषा संस्कृत

शब्द-ब्रह्म के अनुसार संसार में जितनी भी सूक्ष्म व स्थूल वस्तुएँ हैं, वे सब ध्वनि से ही उत्पन्न हुई हैं। योग सूत्रों का यह मानना है कि इस संसार में पचास मूल ध्वनियाँ हैं, शेष ध्वनियाँ इन्हीं पचास मूल ध्वनियों से निकली हैं। मूल ध्वनियों को मात्रिक कहते हैं।

इन मात्रिकाओं को ऋषि-मुनियों ने अपनी ध्यानावस्था में सुना और फिर वाक्-तत्त्व (Phonetic-Principle) के आधार पर एक भाषा का निर्माण किया, जिसे उन्होंने 'संस्कृत' (अतिशोधित) नाम दिया।

संस्कृत एक ऐसी भाषा है जिसमें मनुष्य के कंठ, दंत, जिह्वा, ओष्ठ व तालू से निकलनेवाली सभी ध्वनियों को ज्यों का त्यों शब्दों में लिखा जा सकता है। विश्व की अन्य किसी और भाषा में ऐसा करना संभव नहीं है। संस्कृत भाषा में ५१ वर्ण हैं जिन्हें ब्राह्मी लिपि में लिखा जाता है। अन्य भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत में यह क्षमता है कि इसमें जैसा बोला जाता है, वैसा ही उसे लिखा जाता है। यह क्षमता इस भाषा की वैज्ञानिक आधार पर बनी वर्णमाला के कारण है।

जब कोई संस्कृत का शुद्ध उच्चारण करता है तो उस मनुष्य के शरीर पर एक अनुकूल प्रभाव पड़ता है। यही नहीं, जो इस भाषा के शुद्ध उच्चारण को सुनते हैं, उन पर भी इसका प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि पुराणों में लिखा है कि जो व्यक्ति वेद-पुराणों, रामायण व गीता के मूल पाठों का श्रवण करता था, उसका भी कल्याण हो जाता था। शायद यही कारण था कि पाश्चात्य गायिका 'मैडम मडोना' ने संस्कृत के उच्चारण को सीखने के लिए एक अल्प अवधि कोर्स बनारस में किया। मडोना का कहना था कि इस भाषा के शुद्ध उच्चारण को सीखने के बाद उसने ऐसा महसूस किया कि संस्कृत शिक्षण के बाद उसे सुननेवाले अधिक प्रभावित हुए।

खेद है कि आज संस्कृत एक जीवित भाषा नहीं है। गुप्तकाल के दौरान संस्कृत समस्त भारत की राष्ट्रीय भाषा थी, पर कालांतर में इसका लोप हो गया। एक सर्वे के अनुसार, देश में संस्कृत बोलने व समझनेवाले मात्र छह-सात हजार ही लोग हैं। संस्कृत भाषा को जीवित बनाने के लिए जर्मनी में कई शोध हुए हैं। पर आज आवश्यकता इस बात की है कि ऐसे शोध भारत में भी होने चाहिए। संस्कृत संबंधी एक आश्चर्यजनक बात यह है कि अमेरिका में रह रहे भारतीयों ने न्यू जर्सी शहर में संस्कृत की एक संस्था खोली है और वे वहाँ संस्कृत सीखते-सिखाते हैं।



मंत्र शक्ति विज्ञान

शब्दों के समूह विशेष के संयोजन का नाम मंत्र है। मंत्र संयोजित करते समय मंत्रों को बनानेवाले ऋषि एक-एक अक्षर को बड़ी दक्षता से संयोजित करते थे। यही नहीं, मंत्र को समाज को देने से पहले वे उसका प्रयोग स्वयं पर करते थे और मंत्र सिद्धि के उपरांत ही वे मंत्र वेदों में स्थान पाते थे। ये वैदिक मंत्र कहलाते थे। वैदिक मंत्रों के अतिरिक्त और भी मंत्र हैं, जो उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितने कि वैदिक। मंत्रों के आविष्कार करनेवाले ऋषियों को 'मंत्रद्रष्टा' कहते थे।

मंत्रों का विज्ञान ध्वनि, शाब्दिक शक्ति (Sound energy) और वाक् के सिद्धांत पर आधारित है। मंत्रों के शुद्ध उच्चारण से मनुष्य के विशेष अंगों पर प्रभाव पड़ता है, जिससे उसे ऐसी वांछित ऊर्जा प्राप्त होती है, जो उसकी इच्छापूर्ति कराने में सहायक होती है। मंत्र सिद्धि के लिए मनुष्य को एक निश्चित मात्रा और संख्या तक उच्चारण करना होता है। यही नहीं, मंत्र सिद्धि करते समय उस व्यक्ति को अपनी समस्त ऊर्जा को सँजोकर रखना होता है। इसलिए मंत्र सिद्धि के दौरान ब्रह्मचर्य का पालन, भूमि-शयन, क्रोध पर नियंत्रण, वाणी का संयमित उपयोग करना आवश्यक होता है।

आज मनुष्य की जो जीवन शैली है, उसमें क्या वह इन सब नियमों का पालन कर सकता है? वह मंत्र सिद्धि कैसे भी कर सकता है? इसलिए वह मंत्रों को ढकोसला मानता है। दोष मंत्र विज्ञान का नहीं, उसे ठीक ढंग से न करने का है। मंत्र शक्ति प्राप्त करना एक साधना है, एक तपस्या है, जो आज के इस युग में संभव नहीं। प्राचीन काल में लोगों के पास समय व संयम दोनों थे, पर आज नहीं, क्योंकि युग बदल गया है।

दोष युग का है, मंत्र का नहीं। अमेरिका के डॉक्टर हावर्ड स्टेनगल ने गायत्री मंत्र पर अनुसंधान करके पाया कि गायत्री मंत्र के शुद्ध उच्चारण से वायु में प्रतिक्षण १,१०,००० लयबद्ध विद्युतधारा प्रवाहित होती है। इससे यही सिद्ध होता है कि मंत्रों में अवश्य ही विज्ञान है। मंत्रों द्वारा शब्द-शक्ति से मनुष्य की आंतरिक ऊर्जा प्रवाहित होती है और वह सिद्धि को प्राप्त होता है। मंत्र में देन शक्ति का बीज छुपा होता है, जब कोई व्यक्ति मंत्र उच्चार करता है, तो उस मंत्र की ध्वनि देव शक्ति को प्रकट कर देती है। देव शक्ति के प्रकटीकरण से मनुष्य के दु:ख, आपदा, संकट व अन्य सभी बाधाएँ दूर हो जाती हैं। मंत्र सिद्धि मनुष्य को बह्मांड शक्ति से जोड़ देती है, जिसके कारण मनुष्य को प्रकृति से वह सब मिलने लगता है, जो उसके हित में होता है।

मंत्रों के विषय में एक और बात महत्त्वपूर्ण है कि हर मंत्र हर व्यक्ति को नहीं दिया जा सकता। अलग-अलग मंत्र अलग-अलग व्यक्तियों के लिए हैं, जो इस बात पर निर्भर करता है कि व्यक्ति का आध्यात्मिक स्तर क्या है। और आध्यात्मिक स्तर को जानने के लिए गुरु का योग्य होना जरूरी है। किसी व्यक्ति के आध्यात्मिक स्तर को जाने बिना मंत्र-दीक्षा देनेवाले गुरुओं के कारण ही हम आज के वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखनेवाले लोगों के उपहास का कारण बनते हैं। दोष 'मंत्र' का नहीं, देनेवाले गुरुओं का है।

पर ऐसे भी कुछ मंत्र हैं, जिनका जाप सभी कर सकते हैं। 'गायत्री मंत्र' उनमें से एक है। इस मंत्र की साधना कोई भी व्यक्ति कर सकता है। फिर भी, यदि कोई सिद्ध गुरु इस मंत्र की दीक्षा दे तो मंत्र प्राप्त करनेवाले का आध्यात्मिक विकास अल्पकाल में ही संभव है; क्योंकि सिद्ध व्यक्ति द्वारा दिया मंत्र जल्दी सिद्ध हो जाता है।

प्राचीन काल में जब किसी मंदिर या देवालय के लिए कोई देव प्रतिमा बनाई जाती थी तो उस प्रतिमा को बनानेवाला शिल्पकार उसे तराशते समय मौन रहकर मन-ही-मन उस देवी या देवता के मंत्र का उच्चारण करता

रहता था। इस प्रकार मंत्र जाप से वह मूर्ति जाग्रत् हो जाती थी। आयुर्वेद में भी जब किसी बीमार व्यक्ति के लिए कोई विशेष औषधि बनाई जाती थी तो भी मंत्रजाप किया जाता था। ऐसे ही जब किसी अँगूठी में कोई रत्न जड़वाते थे तो उस अँगूठी के रत्न को मंत्रों द्वारा धारण (जाग्रत्) करते थे। ऐसे ही पौराणिक काल में युद्ध के समय जो बाण मंत्र पढ़कर छोड़े जाते थे, वे उसी लक्ष्य पर लगते थे, जिसका नाम लेकर उसे छोड़ा गया था। ऐसी थी मंत्र-शक्ति।

इन सभी प्रथाओं व धारणाओं के पीछे जो विज्ञान है, वह यह कि मंत्र प्रकृति का सूक्ष्म तत्त्व है, जबकि प्रतिमा, औषधि व रत्न स्थूल। मंत्र जाप द्वारा हम 'सूक्ष्म' को स्थित कर देते हैं। यही इसका विज्ञान है और यही मंत्र-शक्ति।



भारत का नहीं, अब विश्व का है

'योग'

योग और यज्ञ भारतीय संस्कृति की आधारशिला हैं। ये दोनों इतने पुराने हैं, जितना भारत का इतिहास। मनीषियों ने इनके द्वारा ही यहाँ की संस्कृति व सभ्यता को सींचा है। योग वह विज्ञान है, जिसके बल पर हमारे ऋषि-मुनियों ने अपनी ध्यानावस्था में भूलोक से परे वायुमंडल, आकाशमंडल व तारामंडल आदि विषम विषयों का ज्ञान अर्जन किया। इसी योगशक्ति से वे निमिष मात्र में एक लोक से दूसरे लोक की यात्रा करते थे। इसी योग के ज्ञान-विज्ञान के आधार पर वे एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश कर जाते थे। यही नहीं, स्वेच्छा से वे अपने शरीर को पर्वत समान विशाल या चींटी जितना लघु बना सकते थे। अपने अनुपम गुणों के कारण अब योग विश्वव्यापी हो गया है।

योग की ये सब चमत्कारी क्रियाएँ कपोल कल्पना नहीं हैं, अपितु भारत में एक समय ऐसा होता था। पर यह सबकुछ इतना आसान नहीं था। पूर्ण योगी बनने के लिए वर्षों की कठोर तपस्या की आवश्यकता थी। तपस्या के दौरान योगी को शुद्ध आहार एवं विचार की आवश्यकता होती थी। जरा सी मानसिक भूल उसकी वर्षों की तपस्या भंग कर सकती थी। योग-साधना में क्रोध व काम-वासना सबसे बड़े शत्रु हैं। इन दोनों के प्रभाव से बड़े-बड़े योगी भी डगमगा जाते हैं।

सच्चा योगी बनने के लिए एक योगी को कई स्तरों से गुजरना पड़ता था। एक बालयोगी पहले 'ऋषि वत्सल' कहलाता था, फिर वह ऋषि बनता था और जैसे-जैसे उसका आंतरिक व मानसिक स्तर उठता था, राजर्षि या देवर्षि बन जाता था। योग की अंतिम श्रेणी ब्रह्म-ऋषि की थी, जिसकी प्राप्ति कठिन थी। इसी कारण सतयुग में भी केवल दो ही ब्रह्म-ऋषि थे। आज के इस युग में इस स्तर के योगियों की कल्पना करना भी कठिन है।

इतनी क्षमता प्राप्त करने के लिए योगी को अपनी सारी ऊर्जा संचित करनी पड़ती थी। ब्रह्मचर्य का अटूट पालन, सत्य वचन, शुद्ध विचार, शुद्ध आहार और वाणी-माधुर्य व क्रोध का परित्याग सभी अनिवार्य थे। इन सबके साथ ध्यान योग के लिए उसे कुछ अन्य नियमों का पालन भी करना पड़ना था। ध्यान योग के समय उसे गोबर से लिपी हुई भूमि, कुशा के आसन पर सूती या रेशमी वस्त्र पहनकर पद्मासन की मुद्रा में बैठ अपने विचारों पर अंकुश लगा एकाग्रचित्त हो ध्यान लगाना होता था।

जब एक योगी इन सब नियमों का पालन करते हुए ध्यान करता है, तो उसके शरीर में एक विशेष प्रकार की विद्युत् का संचार होता है, उसके शरीर का प्रत्येक अणु सक्रिय हो उठता है, मस्तिष्क में तरंगें उठती हैं और उसका श्वास लयबद्ध होकर न्यूनतम हो जाता है। इन सब तथ्यों की पुष्टि अब पाश्चात्य देशों ने भी की है। उनका कहना है कि योग की अवस्था में मनुष्य की मानसिक स्थिति ऐसी हो जाती है कि उसके शरीर में एक विशिष्ट विद्युत् का संचार होता है। उसके मस्तिष्क में 'अल्फा-वेव' संचारित होने लगती हैं। अल्फा-वेव मनुष्य में केवल तब उठती है जब वह पूर्णरूप से शांत व शिथिल अवस्था में हो। एक साधारण व्यक्ति एक मिनट में १४-१५ श्वास लेता है पर, गहरी ध्यानावस्था में योगी की श्वास गति लगभग आधी होकर ७-८ प्रति मिनट हो जाती है, जिसके कारण योगी की आयु वृद्धि होती थी। योग से हम श्वास कम खर्चते हैं, इसलिए अधिक जीवित रहते हैं।

योग की शोध साधना में लगे प्राचीन मनीषियों को जब इस सत्य का ज्ञान हुआ कि योग से शरीर में विद्युत् संचार होता है और ऊर्जा पैदा होती है, तो उन्होंने इस पर और अधिक शोध किया। गहन अध्ययन करके उन्होंने योग-क्रिया की एक पद्धति तैयार की, जिसमें एक योगी को कब-क्या करना चाहिए, कहाँ बैठना चाहिए, किस पर बैठना चाहिए, कैसे बैठना चाहिए, क्या खाना चाहिए, क्या नहीं खाना चाहिए आदि सभी तथ्यों पर वैज्ञानिक दृष्टि से प्रकाश डाला गया है।

योग क्रिया की पद्धति के अनुसार योगी को कुश के आसन या फिर मृगछाला या ऊन से बने आसन पर बैठकर साधना करनी होती थी। इन आसनों के पीछे वैज्ञानिक कारण था कि ये सब योगी के शरीर में उत्पन्न ऊर्जा को जमीन में जाने से बचाते हैं, क्योंकि ये तीनों 'बैड कंडक्टर ऑफ इलेक्ट्रिसिटी' (Bad conductor of electricity) हैं। इसलिए विद्युत् इनसे गुजर नहीं सकती और योग करके योगी जितनी ऊर्जा अर्जित करता है, वह उसके शरीर में ही रहती है।

जब एक योगी पद्मासन लगाकर बैठता है तो उसके शरीर के सब अंग-प्रत्यंग एक-दूसरे से छूते रहते हैं। इसलिए जब योगी के शरीर में ऊर्जा का संचार होता है तो वह ऊर्जा उसके पूरे शरीर में ही घूमती रहती है। शिखा में गाँठ लगाने और हाथ की उँगलियों को किसी विशेष मुद्रा में रखने से पैदा हुई ऊर्जा शरीर के किसी भी अंग से बाहर निकल नहीं पाती। सिर पर चोटी, उँगलियों में मुद्रा और पद्मासन में बैठा योगी अंग्रेजी के आठ (८) अंक के समान हो जाता है, जिसमें कोई छोर नहीं होता। इसलिए जो भी ऊर्जा शरीर में पैदा होती है, वह घूम-फिरकर शरीर में ही रहती है।

योगाभ्यास के लिए धर्मग्रंथों में नदी का तट या पहाड़ की चोटी को अधिक उपयुक्त बताया गया है। नदी के किनारे या पहाड़ की चोटी पर बैठकर योगाभ्यास करने का वैज्ञानिक कारण यह है—प्रकृति की लय (Cosmic rythem) से शरीर की लय को तन्मय करना। हमारे दूरदर्शी मनीषियों ने योग विज्ञान का बड़ी बारीकी से अध्ययन किया था। योगी को सात्त्विकता पैदा करनेवाले सूती वस्त्र, शरीर की विद्युत् को नियंत्रित रखने के लिए गले में रुद्राक्ष की माला और योग अभ्यास से शरीर में पैदा होनेवाली अग्नि को संतुलित व शांत रखने के लिए गाय के घी-दूध का सेवन करने का विधान है।

योगाभ्यास के बाद योगी लकड़ी से बनी पादुकाएँ इसलिए पहनते थे, ताकि योग द्वारा संचित ऊर्जा नंगे पाँव चलने से भूमि में रसावित न हो जाए। लकड़ी की पादुकाओं के पीछे का विज्ञान यह है कि लकड़ी बैड-कंडक्टर ऑफ इलेक्ट्रीसिटी है, इसलिए लकड़ी की पादुकाएँ योगी की ऊर्जा को उसके शरीर में ही संचित रखती हैं।

जब कोई व्यक्ति लगन से लगातार योगाभ्यास करता है तो उसका मन, शरीर और मस्तिष्क तीनों ही स्वस्थ व स्फूर्त हो जाते हैं। उसका शरीर नीरोग, मन शांत व मस्तिष्क तीव्र हो जाता है। उसका व्यक्तित्व निखर जाता है और वह दीर्घायु होता है।

आज के युग में सनातन ऋषियों व पतंजलि द्वारा बताए कड़े नियमों का पालन करना असंभव है। इसलिए युग के अनुसार जो कुछ भी हम कर सकते हैं, उसे ही करना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता तो पाश्चात्य देशों में आज योग पताका नहीं फहरा रही होती। योग के चमत्कारी गुणों के कारण अनेक देशों में इसका अभ्यास हो रहा है। यह बदलाव इस सत्य की पुष्टि करता है कि योग भारत के लिए ही नहीं, विश्व के लिए है, संपूर्ण मानवजाति के लिए है।



यज्ञ-विज्ञान

यज्ञ (हवन) वैदिक परंपरा का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। आर्य मूल रूप से अग्नि पूजक थे। ऋग्वेद का प्रथम शब्द अग्नि है और यज्ञ अग्नि-विज्ञान से जुड़ा है, जिसके अनुसार अग्नि में जो भी वस्तु डाली जाती है, वह उसे भस्म करके उसका विस्तार कर देती है और सूक्ष्म रूप से उसे ऊपरी लोकों में भेज देती है। अमेरिका के 'नासा' वैज्ञानिकों ने भी यह स्वीकारा है कि उनके द्वारा प्रक्षेपित 'रॉकेट्स' से निकलनेवाली लपटों के कारण रॉकेट्स में डाली ध्वनियों की मात्रा स्वत: बढ़ जाती है, जो इस प्राचीन सत्य को प्रतिपादित करती है कि अग्नि उसमें डाली वस्तुओं का विस्तार करती है।

अग्नि-पूजा का दर्शन है—प्रकृति के प्रति और अन्य देवों के प्रति जो हमारा ऋण है, उसे उतारना और वातावरण को शुद्ध करना। यज्ञ की सारी प्रक्रिया के पीछे अग्नि व मंत्र दो शास्त्र निहित हैं। यज्ञ के लिए जो अग्निकुंड तैयार किए जाते हैं, वे शुद्ध गणित व रेखागणित के आधार पर होते हैं। वैदिक गणित और सुलभ सूत्रों के अनुसार प्राचीन काल में रेखागणित की भिन्न-भिन्न दस आकृतियोंवाली ईंटों का प्रयोग अग्निकुंड को बनाने में किया जाता था। ईंटों का माप यज्ञ करानेवाले व्यक्ति के शारीरिक डीलडौल पर निर्भर करता था। रेखागणित के सुलभ सूत्र ईसा से आठ शताब्दी पूर्व के हैं। सन् १९७५ में, केरल में एक वैदिक यज्ञ का आयोजन किया गया था, जिसमें प्राचीन मूल पद्धति का अनुसरण किया गया और पाँच भिन्न-भिन्न आकार की एक हजार ईंटों का प्रयोग किया गया था।

इसके अतिरिक्त यज्ञ में डाली जानेवाली सामग्री, जैसे तरह-तरह की जड़ी-बूटियाँ, काले तिल, जौ, चावल, गुग्गल और गाय का शुद्ध घी—सभी का वैज्ञानिक ढंग से चयन होता था। ये सभी पदार्थ जब अग्नि में स्वाहा होते हैं तो सूक्ष्म और विस्तारित होकर वायुमंडल में विलीन हो जाते हैं। अग्नि में डालने से पूर्व मंत्रोच्चारण होता है जो उन पदार्थों को परिलक्षित कर देता है अर्थात् अग्नि में डाले जानेवाले पदार्थ को सूक्ष्म रूप से किस दैविक शक्ति को भेजा जा रहा है, वह बोले जानेवाले मंत्र से जाना जाता है। मंत्र के अनुसार अग्नि उस पदार्थ के सूक्ष्म रूप को निहित देव या देवी के पास पहुँचा देती है। बस यही यज्ञ का विज्ञान है।

विशेष यज्ञों में हम देवताओं के मंत्रों के साथ आहुति में देवताओं की पसंद के पदार्थ भी अग्निकुंड में डालते हैं; जैसे गणेश हवन में गन्ने के टुकड़े, विष्णु हवन में चारु (दूध की खीर) और पितृ-हवन में काले तिल। अग्नि इन्हें जलाकर भस्म करके परिवर्तित रूप में देवताओं को पहुँचा देती है और वे प्रसन्न होकर हमें मन-वांछित फल प्रदान करते हैं।

हवन की अग्नि जड़ी-बूटियों, मेवा व अन्य पदार्थों की भस्म बना देती है, जो एक सशक्त औषधि बन जाती है, जिसे बाद में प्रसाद के रूप में श्रद्धालुओं में बाँट दिया जाता है।

यज्ञ करनेवाले और करानेवाले दोनों के लिए कुछ नियम होते थे, जिनका उन्हें पूर्णरूप से पालन करना पड़ता था। इन नियमों में मन-शुद्धि और शरीर-शुद्धि दोनों अनिवार्य थीं, अन्यथा फल-प्राप्ति में बाधा आती थी। आजकल हम हवन तो करते हैं पर उन सब नियमों का पालन नहीं। हमें भोजन तो चाहिए, पर धीरे-धीरे चूल्हे की आग पर बना नहीं, बल्कि ओवन पर पका 'फास्टफूड'। इसी प्रकार हमें यज्ञ से भी तुरंत फल चाहिए, पर यज्ञ के नियमों का पालन नहीं। ऐसे में यज्ञ कैसे फलीभूत होगा?

फाल्गुनी पूर्णिमा के दिन मनाए जानेवाला होली का पर्व एक सामूहिक यज्ञ ही था। कुछ विद्वानों के अनुसार यह प्राचीन अग्नि-पूजकों की एक अतिविशिष्ट परंपरा है, जिसका रूप आज बिलकुल बदल गया है। इस पर्व को मनाने

के लिए मूल रूप से केवल गाय के गोबर से बने उपले, मेवा व नवधान्य ही अग्नि में डाला जाता था। इस यज्ञ के लिए होलिका-दहन की अग्नि आज की तरह माचिस से नहीं अपितु मंत्रों द्वारा या फिर अगर की लकड़ी को रगड़कर प्रज्वलित की जाती थी। इस सामूहिक यज्ञ में प्राचीन समस्त समाज भाग लेता था। होली दहन ठीक उस समय पर किया जाता था जब चंद्रमा की कला पूर्ण होती थी, जिसका निश्चय गणितज्ञ द्वारा किया जाता था। इस यज्ञ की एक विशेषता यह भी थी कि इसे किसी आश्रम में नहीं बल्कि ग्राम क्षेत्र में आयोजित करते थे। इसका एक बड़ा लाभ यह होता था कि शीत के कारण जो वायुकण ऊपर वायुमंडल में न जाकर भूमि-स्तर पर ही रहते थे और ग्रामवासियों के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकते थे, इस यज्ञ की अग्नि की गरमी से हलके होकर ऊपर चले जाते थे और ग्राम के वातावरण को शुद्ध कर देते थे।

होली का जो रूप हमें आज देखने को मिलता है, यह मूल रूप में वैसा नहीं था। आजकल होली के लिए कोई भी लकड़ी, गंदे साज-सामान और न जाने क्या-क्या इसमें जलाते हैं। गाय के गोबर की तो हम कल्पना भी नहीं कर सकते। गाँवों में भी आज गायें कम भैंसें ज्यादा दिखती हैं। वहाँ भी होली का विकृत रूप ही हमें देखने को मिलता है। सच तो यह है कि होली की अपेक्षा आज हम उन्मादवाली दुल्हंडी (होली से अगले दिन) को होली मानते हैं, न कि होली यज्ञ को। सरकारी छुट्टी भी दुल्हंडी की होती है, न कि 'होली' की। शायद आज के युग की यही माँग है।



बोतल बंद गंगाजल महीनों बाद भी दूषित नहीं होता

भगीरथ ने ब्रह्मा व शिव की उपासना कर गंगा को पृथ्वी पर अपने पूर्वजों के कल्याणार्थ उतारा था—ऐसा पुराणों में लिखा है। गंगा में स्नान करने से मनुष्य के पाप कट जाते हैं, ऐसा हिंदुओं का विश्वास है। गंगा में अस्थियाँ बहाने से वे शीघ्र जलतत्त्व में मिल जाती हैं, यह सत्य सर्वविदित है। यही नहीं, गंगाजल महीनों बोतल में बंद रखने पर भी दूषित नहीं होता, यह तथ्य अब तो वैज्ञानिक भी स्वीकारते हैं।

भारतवर्ष में अनेक नदियाँ हैं, जैसे—यमुना, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी, सिंधु, ब्रह्मपुत्र आदि। सभी नदियों के अपने-अपने उद्‍गम स्थल हैं और बहने का अपना-अपना मार्ग, जिसे उन्होंने अपने आप अपने प्रवाह के साथ बनाया है। वेद-पुराण पढ़ने के बाद हमें ऐसा कोई प्रसंग नहीं मिलता, जिसमें यह वर्णन हो कि गंगा के अलावा किसी और नदी का उद्‍गम व मार्ग किसी व्यक्ति ने खोजा और बनाया हो। ऐसा केवल गंगा के साथ ही हुआ है। इस दृष्टि से गंगा 'नदी' नहीं है, क्योंकि एक प्राकृतिक नदी वह होती है जो स्वयं बहे। संस्कृत में 'नद' का अर्थ है—बहना। नदी शब्द भी नद से ही बना है। पर गंगा स्वयं नहीं बही, यह बहाई गई है। इसे भगीरथ ने खोजा और फिर उसका मार्ग निश्‍चित किया। ऐसा संसार की किसी और नदी के साथ नहीं हुआ। परंतु गंगा की पवित्रता को देखते हुए ऐसा लगता है कि गंगा एक ऐसी विशिष्ट जलराशि है जो नदी ही नहीं, उससे भी उच्च श्रेणी की प्राकृतिक जल-संपदा है, जिसे भगीरथ ने किसी विशेष प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए खोजा होगा।

कथा में आता है कि कपिल मुनि ने भगीरथ के दादा राजा सगर को कहा था कि उनके साठ हजार पुत्रों का कल्याण तभी होगा जब उनकी अस्थियाँ पवित्र जल से बहाकर समुद्र में प्रवाहित की जाएँ। राजा सगर और फिर उनके पुत्र राजा दलीप दोनों का सारा जीवन उस पवित्र जलराशि को खोजने में बीत गया, पर वे इस जलराशि को ढूँढ़ नहीं पाए। भगीरथ ने अपने पिता व दादा की खोज को आगे बढ़ाया। यदि प्रश्‍न केवल किसी भी जलराशि से पूर्वजों की अस्थियों को समुद्र में प्रवाहित करना होता तो फिर भगीरथ को बंगदेश से गंगोत्तरी तक जाने की आवश्यकता नहीं होती। वह मार्ग में कहीं से भी, किसी पर्वत शृंखला से किसी भी नदी को लाकर अपने पूर्वजों का तर्पण कर देते। परंतु कपिल मुनि के शाप से मुक्ति पाने के लिए भगीरथ को तो किसी विशिष्ट पवित्र जलराशि की खोज थी, जो पापनाशिनी हो। अत: ऐसी पवित्र जलराशि की खोज करते-करते भगीरथ गंगोत्तरी पहुँचे, क्योंकि मार्ग में उन्हें उनके मतलब की जलराशि कहीं नहीं मिली। इसका अर्थ यह हुआ कि गंगोत्तरी एक विशेष भौगोलिक महत्ता का स्थल है, जहाँ दैविक शक्ति प्रकृति के साथ उसे विशिष्ट बनाती हैं।

यहाँ मन में एक प्रश्‍न यह उठता है कि गंगोत्तरी में ऐसा क्या दैविक है, जो कहीं और नहीं है? भगीरथ जब गंगोत्तरी क्षेत्र में पहुँचे तो उन्होंने देखा कि वहाँ चौबीस वर्ग मील के क्षेत्र में ३०० फीट ऊँचा एक हिमखंड है, जो सदियों से अचल खड़ा है। पुराणों में इसे ही गंगा को शिव की जटाओं में बंद कहा गया है। इस हिमखंड पर सतत बृहस्पति ग्रह की तरंगें गिरती रहती हैं, जो गंगोत्तरी की विशिष्ट भौगोलिक स्थिति के कारण है। बृहस्पति ग्रह की ये तरंगें यहाँ इस हिमखंड को पवित्र करती हैं और दैविक बनाती हैं, जिस कारण यह एक पवित्र खंड बन गया है। पुराणों में इसी बात को गंगा के स्वर्ग से अवतरित होना बताया गया है, क्योंकि बृहस्पति की दैविक तरंगें ऊपर (स्वर्ग) से ही तो आती हैं। बृहस्पति ग्रह से आनेवाली तरंगें विश्‍व में अन्यत्र किसी अन्य स्थल पर इस प्रकार नहीं गिरतीं। भगीरथ को ऐसे ही स्थल की खोज थी, जो गंगोत्तरी पर पूरी हुई।

भगीरथ ने उस हिमखंड के मूल से जल निकलने का मार्ग बनाया, जिसे गोमुख की संज्ञा दी गई। पुराणों में इसे

ही शिव आराधना करके गंगा को शिव की जटाओं से धीरे-धीरे छोड़ना कहा गया है। भगीरथ ने फिर उस जलधारा का मार्ग बनाया। मार्ग के सारे अवरोधों को हटाकर गंगा को देवप्रयाग नामक स्थल पर अलकनंदा नदी से मिला दिया और आगे का मार्ग प्रशस्त किया। इस प्रकार गंगा का अवतरण हुआ।

गंगा की पवित्रता व इसके जल में पापनाशिनी तत्त्व बृहस्पति ग्रह की कॉस्मिक रेज (तरंगों) व मार्ग की हिमालय पर पाई जानेवाली खास जड़ी-बूटियों के कारण है, जो गंगाजल को वर्षों तक दूषित होने नहीं देतीं। गंगा इस प्रकार आस्था के साथ-साथ अपनी वैज्ञानिक स्थिति के कारण पवित्र व पापनाशिनी है। गंगा की पवित्रता और विशिष्टता अब तो वैज्ञानिक भी स्वीकारते हैं।



विश्व के वैज्ञानिक मानते हैं कि गंगाजल कीटाणुनाशक है

भारत में यों तो अनेक नदियाँ हैं और सभी पावन हैं, पर 'गंगा' सर्वोच्च है। गंगा नदी संसार की सभी नदियों में से विशिष्ट है। यह तथ्य अब विश्व के वैज्ञानिक भी स्वीकारते हैं। उन्होंने संसार की लगभग समस्त नदियों के जल का परीक्षण किया और पाया कि गंगाजल के अतिरिक्त किसी और नदी के जल में रोगाणुओं को नष्ट करने की शक्ति नहीं है। इसी कारण, हिंदू अंतिम संस्कार के बाद अस्थियाँ गंगा में प्रवाहित करते हैं, ताकि यदि उनमें किसी भी प्रकार के रोग के कीटाणु शरीर में शेष रह गए हैं तो वे गंगाजल में समाविष्ट होकर नष्ट हो जाएँ।

सन् १९४७ में जर्मनी के जलतत्त्व विशेषज्ञ कोहीमान भारत आए थे। उन्होंने वाराणसी से गंगाजल लिया और उस जल पर अनेक परीक्षण करके एक विस्तृत लेख लिखा। जिसका सार था—''इस नदी के जल में कीटाणु-रोगाणुनाशक विलक्षण शक्ति है, जो संसार भर की किसी और नदी के जल में मेरे देखने में नहीं आई।'' इससे पहले सन् १९२४ में बर्लिन के डॉ. जे.ओ. लीवन ने दुनिया की तमाम नदियों के जल का विश्लेषण करने के बाद यही निष्कर्ष निकाला था—''गंगाजल विश्व का सर्वाधिक स्वच्छ और कीटाणु-रोगाणुनाशक जल है।'' फ्रांसीसी चिकित्सक हेरल ने भी यही अनुभव किया कि गंगाजल से कई रोगाणु नष्ट हो जाते हैं।

रुड़की विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों का मानना है कि ''गंगाजल में जीवाणु-नाशक और हैजे के कीटाणुनाशक तत्त्व विद्यमान हैं।''

गंगाजल के इस भौतिक लाभ के अतिरिक्त जो अलौकिक लाभ मनुष्य को होता है, उसका वर्णन पुराणों में है, जिनके अनुसार इसे सतत पीनेवाले में सात्त्विक वृत्ति का संचार होता है, आनंद व शांति मिलती है तथा पापों का नाश होता है।

उपर्युक्त कारणों से हम जब किसी भी वस्तु पर गंगाजल छिड़कते हैं तो इस कृत्य को धार्मिक भाषा में 'पवित्रीकरण' कहते हैं और यदि आधुनिक भाषा में कहें तो उसे 'डिसइन्फेक्ट' करना कहेंगे। पूजा-पाठ या हवन आदि करने से पहले उस स्थान पर गंगाजल छिड़कने का उद्देश्य उस स्थान को पवित्र करना होता है। मरते हुए व्यक्ति के मुख में गंगाजल उसके पापों को कम करने के लिए डाला जाता है, ताकि उसका कष्ट कम हो।

गंगोत्तरी भारत के ऐसे देशांतर और अक्षांश (Longitude and latitude) पर स्थित है जहाँ आकाश से विशेष रूप से बृहस्पति ग्रह की रश्मियाँ व तरंगें सतत उस हिमखंड पर पड़ती रहती हैं, जिसके कारण उस हिमखंड से पिघलनेवाला जल पापनाशक व रोगनाशक बन जाता है और यही कारण है कि 'गंगाजल' अन्य नदियों के जल से भिन्न है। बृहस्पति ग्रह की तरंगें गंगोत्तरी हिमखंड को प्रभावित करके पवित्र कर देती हैं। दिन में सूर्य की किरणें हिमखंड को पिघलाती हैं और रात में चंद्रमा की रश्मियाँ (शिव-तत्त्व) उसे जमा देती हैं। इस प्रकार प्रतिदिन यह क्रम चलता है, जो गंगाजल को विशिष्ट बना देता है। यह बात तो अब वैज्ञानिक भी मानते हैं कि यदि साधारण जल को हम सौ बार डिस्टिल (Distil) करें तो वह जल विशिष्ट हो जाता है। यहाँ तो गंगाजल हर रोज प्रकृति द्वारा प्राकृतिक ढंग से डिस्टिल होता रहता है। तो फिर यह अद्भुत व चमत्कारी हैं तो आश्चर्य कैसा? पर अब ग्लोबल वार्मिंग के कारण गंगोत्तरी का अस्तित्व ही खतरे में है।

हमारे ऋषि-मुनियों ने गंगा के जल की इस विशिष्टता को हजारों वर्ष पूर्व जान लिया था और इसीलिए गंगा को

भारत के जनमानस से पूर्णरूप से जोड़ दिया।

पर इस सत्य से भी मुँह नहीं मोड़ा जा सकता कि गंगा की जो स्थिति आज देखने को हमें मिलती है, उससे गंगाजल की पवित्रता पर प्रश्नसूचक चिह्न गंगा का नहीं, हमारा है, जो उसे इतना गंदा रखते हैं। पर आज भी यदि हरिद्वार से ऊपर जाकर गंगाजल लिया जाए तो वह पवित्र ही होगा।

खेद है कि हम अपनी इस धरोहर को बचाने का कोई सार्थक व सकारात्मक प्रयत्न नहीं कर रहे हैं। पिछले कई वर्षों से काँवड़िया लाखों की संख्या में गंगोत्तरी तक जा रहे हैं। इस कारण वहाँ प्रदूषण फैला रहा है, लेकिन प्रदूषण-नियंत्रण की समुचित व्यवस्था नहीं की जाती। जिससे गंगोत्तरी ग्लेशियर तेजी से पिघल रहा है। आज जरूरत इस बात की है कि गंगा की पवित्रता को बनाए रखा जाए। इस दिशा में सार्थक पहल बहुत जरूरी है।



खगोल पर्व है 'कुंभ'

कुंभ भारत का प्राचीनतम पर्व है। यह भगवान् राम व कृष्ण दोनों से प्राचीन है। भारत में संभवत: इतनी बड़ी संख्या में जनमानस किसी अन्य पर्व में भाग नहीं लेता जितना कि कुंभ में। इतनी बड़ी संख्या में भाग लेने का कारण है कि यह पर्व किसी जाति विशेष, समुदाय विशेष या प्रदेश विशेष के लिए नहीं है। यह पर्व तो समूचे जनमानस के लिए भारत के मनीषियों ने आविष्कृत किया था।

पुराणों में लिखी कथा को हम यहाँ नहीं दोहराएँगे अपितु उस कथा के पीछे जो विज्ञान व वास्तविक अर्थ है उस पर चर्चा करेंगे। हम जानते हैं कि ग्रहों का पृथ्वी पर प्रभाव पड़ता है। कहा गया है, कुंभ-पर्व उसी विज्ञान पर आधारित है। सभी जानते हैं कि पूर्ण कुंभ बारह वर्षों के अंतराल पर पड़ता है। इसका कारण यह है कि बारह वर्षों के बाद बृहस्पति ग्रह मेष (Aries) और सूर्य-चंद्र (Capricorn) राशियों में होते हैं। आकाश मार्ग में ग्रहों की यह युक्ति विशेष है और जनमानस के लिए हितकर भी, बशर्ते मनुष्य इस अवसर का सदुपयोग करे। गणित के आधार पर इन ग्रहों की युक्ति का समय निश्चित किया जाता है। आधुनिक खगोलशास्त्री भी इस गणित को स्वीकारते हैं, पर पृथ्वी पर रहनेवाले प्राणियों पर इन ग्रहों की इस युक्ति का कोई प्रभाव पड़ता है, इस बात को वे पूर्णरूप से नहीं स्वीकारते।

कुंभ में जहाँ ग्रहों की युक्ति का महत्त्व है वहीं नदियों का भी महत्त्व है। पूर्ण कुंभ जो गंगा पर स्थित प्रयाग (इलाहाबाद) में पड़ता है, महाकुंभ कहलाता है। महाकुंभ के दिन सूर्य, चंद्र बृहस्पति तीनों का प्रभाव गंगा की जलराशि पर पड़ता है जो उसे दैविक रूप से शक्तिशाली बना देता है। इस दौरान जो प्राणी अपने शरीर को गंगा की जलराशि में डुबोकर पाप-मुक्ति प्रार्थना करते हैं, पाप-मुक्त हो जाते हैं और सांसारिक सुखों से युक्त भी। परंतु यहाँ जरूरी है कि गंगा में स्नान करने से पूर्व उन्होंने अपने शरीर व मन दोनों को पापमुक्ति के योग्य तैयार किया हुआ हो। यदि ऐसा नहीं किया गया है तो फिर गंगा में कुंभ स्नान का कोई वास्तविक लाभ नहीं होगा। पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखनेवाले इस क्रिया को ढकोसला ही कहेंगे।

प्राचीन काल में ऋषि-मुनि जब कुंभ के अवसर पर स्नान करते थे तो कुछ दिन पूर्व नदी के किनारे डेरा डालकर व्रत, जप द्वारा अपने शरीर व मन की शुद्धि करते थे और निश्चित समय पर गंगा, गोदावरी या फिर क्षिप्रा नदी में स्नान करते समय भी वे मंत्र जाप करते थे। शरीर को पूर्णरूप से कुछ समय तक गंगा की जलराशि में डुबोकर रखते थे, ताकि कुंभ के शुभ मुहूर्त पर आध्यात्मिक लाभ उठा सकें।

कुंभ का विज्ञान यह है कि जब आकाश मार्ग में सूर्य-चंद्र व बृहस्पति ग्रह बारह वर्षों के अंतराल के बाद मिलते हैं तब उनकी इस युक्ति से उस समय विशेष तरंगें निकलकर भारत के प्रयाग भूभाग पर बहती गंगा पर पड़ती हैं। उन विशिष्ट तरंगों के जल से मिलने पर वह जलराशि कुछ समय के लिए दैविक हो जाती है। यदि कोई व्यक्ति उस समय उस जल में विधिवत् स्नान करता है तो वह अवश्य ही पापमुक्त हो जाता है। विधिवत् स्नान न करने पर उसे मात्र आंशिक फल ही मिलता है। आठवीं सदी में महाराज हर्षवर्धन यह पर्व बड़ी निष्ठा से मनाते थे और अपनी सारी धन-संपदा दान कर देते थे। इस सत्य का उल्लेख इतिहास में मिलता है।

कुंभ का जो रूप हमें आज देखने को मिलता है, वह युग के अनुरूप है, विधि-विधान के अनुसार नहीं। ऐसे में यदि कुंभ के अवसर पर गंगा में स्नान करने पर उनके पाप नहीं कटते तो इसमें गंगा या कुंभ परंपरा का क्या दोष? यह सत्य है कि हर धार्मिक मान्यता को पूरा करने का एक निश्चित ढंग है। यदि हम वैसा नहीं करते तो दोष हमारा

है, न कि परंपरा या मान्यता का।

परंतु आज आवश्यकता इस बात की है कि पहले हम गंगा को बचाएँ। यदि हमारी भूलों के कारण गंगा ही नहीं रहेगी तो कुंभ कैसा होगा?



गौ-पूजन का वैज्ञानिक आधार

ओ३म् यदि सनातन धर्म की आत्मा है तो गौ उसके प्राण। भारत में गौमाता की पूजा सदा से होती आई है। हिंदू धर्मग्रंथों के अनुसार गौ भारत की ही नहीं अपितु विश्वमाता है। इसका उल्लेख हमारे वेद-पुराणों, गीता-रामायण आदि सभी धर्मग्रंथों में मिलता है। वेदों का मानना है कि विश्व के जड़-चेतन सभी प्राणियों में कोई-न-कोई देवता वास करते हैं। परंतु गौमाता के शरीर में तो सभी देव-तत्त्व विद्यमान हैं। इसी कारण गाय को सर्वदेवमयी एवं विश्वरूपा कहा गया है। हिंदू धर्म शास्त्रों के शायद ही कोई ऐसा ग्रंथ होगा, जिसमें गौमाता की महिमा का वर्णन न किया गया हो। पुराणों में कामधेनु, नंदिनी, सुरभि, सुभद्रा, सुशीला, बहुला आदि दैविक गायों का उल्लेख मिलता है। गाय का दूध सात्त्विक गुणों को जाग्रत् करता है। देवताओं को इसके दूध का अभिषेक व इससे बने पदार्थ अत्यंत प्रिय हैं। गाय आर्यों की परम प्रिय थी, जिसका दूध वे प्रतिदिन सेवन करते थे और आपस में एकता व प्रेम से रहते थे। इसके विपरीत राक्षसों की संस्कृति में भैंस को प्रधानता दी जाती थी।

गाय से प्राप्त दूध, दही, घी, गोबर और गौमूत्र—ये सभी पदार्थ पवित्र हैं। इन पाँचों पदार्थों को मिलाकर 'पंचगव्य' बनाते हैं। पंचगव्य पापों का नाश करनेवाला व शुद्ध करनेवाला माना जाता है। शिव प्रिय बिल्व वृक्ष गऊमाता के गोबर से उपजा है। इस वृक्ष में माँ भगवती लक्ष्मी का निवास है। इसलिए इसे 'श्रीवृक्ष' भी कहते हैं। नीलकमल तथा रक्तकमल फूलों के बीज भी गौ के गोबर से ही उत्पन्न हुए हैं। गौमाता के मस्तक से उत्पन्न पवित्र गोरोचन सिद्धिदायक है। गुग्गल नाम का सुगंधित पदार्थ गोमूत्र से पैदा होता है। गुग्गल देवप्रिय आहार है, इसलिए हवन करते समय इसकी आहुति दी जाती है। यह आहुति देवताओं को प्रसन्न करती है और मनुष्य का कल्याण भी करती है।

गाय से संबंधित ये सभी मान्यताएँ कोई ढकोसला नहीं हैं बल्कि इनके पीछे गूढ़ वैज्ञानिक आधार है। प्रकृति ने गाय के शरीर को ऐसा बनाया है कि उसके शरीर से उत्पन्न हर पदार्थ अपने में विशिष्ट गुण रखता है, जो मनुष्य के लिए हितकर है। प्रकृति गाय के शरीर में ये विशिष्टताएँ दो कारणों से पैदा करती है। एक तो यह कि गाय के शरीर की जो चर्म है, वह सूर्यकिरणों से विशेष शक्ति और ऊर्जा ग्रहण करने की क्षमता रखती है, जिसके कारण गाय से पैदा होनेवाले सभी पदार्थ विशेष गुणकारी होते हैं। दूसरी विशिष्टता यह है कि गाय की शारीरिक आंतरिक बनावट इस प्रकार है कि उसके शरीर से पैदा हुए पदार्थ विशेष होते हैं।

प्राचीन काल में जब हमारे देश के गाँवों में किसी कारण महामारी, प्लेग आदि फैलता था, तब हमारे पूर्वज गाय के गोबर से घरों की दीवारों पर चार अंगुल चौड़ी रेखा घर के चारों तरफ लिपवा देते थे, जिससे रोग के कीटाणु घर में प्रवेश नहीं कर पाते थे। गोमूत्र अनेक रोगों का नाश करता है। इसमें कैंसर जैसे रोगों को भी नियंत्रित करने की क्षमता है। ऐसा इसलिए संभव है, क्योंकि गोमूत्र में 'गंगा' निवास करती है। इस मान्यता का अर्थ है कि गंगाजल की तरह गोमूत्र भी पवित्र और कीटाणुनाशक है।

गाय के दूध को आयुर्वेद में अमृत कहा गया है। आज वैज्ञानिकों ने भी यह सिद्ध कर दिया है कि गौमाता के चर्म में वह आकर्षण शक्ति है, जो सूर्य की किरणों से एक प्रकार का स्वर्णिम तत्त्व आकृष्ट करके अपने दूध में समाविष्ट कर लेती है। इसी कारण गाय के दूध और घी में कुछ पीलापान झलकता है। सूर्य से प्राप्त यही पीलापन मनुष्य के लिए बहुत लाभदायक है, जो हमारी आंतरिक शक्ति को बढ़ाता है।

वैज्ञानिक भाषा में गाय के घी-दूध का यह पीलापन लैक्टोज (Lactose) कहलाता है। इस कारण गाय का दूध माँ

के दूध से मिलता-जुलता है, क्योंकि माँ के दूध में सबसे अधिक लैक्टोज होता है। इसके बाद लैक्टोज गाय के दूध में पाया जाता है। गाय के दूध का यह गुण बच्चों का लगभग माँ के दूध जैसा ही पोषण करता है।

यदि हम अन्य दुधारू पशुओं, जैसे भैंस, बकरी, ऊँट, याक आदि को जंगल में बेरोक-टोक चरने के लिए गाय के साथ छोड़ दें तो देखेंगे कि गाय जो वनस्पति खाती है, वह दूसरे पशुओं की अपेक्षा अलग होती है, जो उसके दूध को मनुष्य के लिए अधिक गुणकारी व पौष्टिक बना देती है। भैंसें घास तथा बकरी व ऊँट काँटेदार वनस्पति अधिक पसंद करते हैं जबकि गाय घास के साथ कुछ विशेष पौधे भी चरती है, जो उसके दूध को विशिष्ट बनाते हैं।

एक और तथ्य ध्यान देने योग्य यह है कि गाय के दूध में गाय के अपने चर्म का रंग भी महत्त्वपूर्ण है। वैज्ञानिक अनुसंधानों द्वारा अब यह प्रमाणित हो चुका है कि लाल रंग और काले रंग की गायों का दूध सफेद रंग की गाय से गुणधर्म में अलग है। इस कारण उनके दूध की प्रभाव शक्ति भी भिन्न होती है। इस गुण-धर्म की भिन्नता का वैज्ञानिक कारण यह है कि लाल और काली गायें अपने चर्म के रंगों के कारण सूर्य की शक्ति को भिन्न-भिन्न मात्रा व ढंग से अपने शरीर में ग्रहण करती हैं, जिसके कारण उनका दूध गुणवत्ता में अलग होता है। कर्मकांड में अलग-अलग प्रकार के गुणधर्मवाले दूध की आवश्यकता होती है। इसीलिए ब्राह्मण पूजा में आपसे काली या लाल गाय का दूध लाने को कहते हैं।

आपको यह जानकर भी आश्चर्य होगा कि गाय के विषय में जो तथ्य बताए गए हैं, वे सब भारत की देशी गाय के विषय में हैं। विदेशी 'जर्सी' गाय के दूध में ये सब गुण पूर्णरूप से विद्यमान नहीं होते। इसका वैज्ञानिक आधार यह है कि 'जर्सी' गाय की 'जेनेटिक म्यूटेशन' (Genetic mutation) देशी गाय से भिन्न होती है। प्राचीन काल में देशी गाय की भी कई प्रजातियाँ थीं, पर उन सबका दूध-दही गुण-धर्म में एक समान था।

अमेरिका ने कानपुर की एक फर्म को 'गौमूत्र' का पेटेंट दिया है और यह स्वीकार किया गया है कि गौमूत्र में कई बीमारियों की रोकथाम और ठीक करने की क्षमता है।

रूस के वैज्ञानिकों, विशेषकर डॉ. शीरोविक के अनुसार गाय के गोबर से लीपे गए घरों पर परमाणु रेडिएशन का प्रभाव नहीं पड़ता। यही नहीं, गाय के घी की अग्नि में आहुति देने से जो धुआँ उठता है, वह परमाणु रेडिएशन को काफी हद तक कम करता है।

खेद है, आज भारत में उसी पूजनीय गाय की दुर्दशा है, वह सड़क पर गंदी चीजें व प्लास्टिक की थैलियाँ खाती है। ऐसी स्थिति में गाय के द्वारा दिया दूध-दही हमें पहले जैसा पौष्टिक व नीरोग कैसे बना सकता है? यदि ऐसे दूध के कारण आज का वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखनेवाला आधुनिक मानव गाय के विषय में किए गए गुणगान को ढकोसला या अंधविश्वास कहे तो आश्चर्य कैसा?

❑

गाय के गोबर के वैज्ञानिक तथ्य

गाय के गोबर की उपयोगिता पर जितना शोध भारत के मनीषियों ने किया है, संभवत: विश्व में उतना अन्यत्र कहीं नहीं हुआ। आधुनिक वैज्ञानिक भी अब इस पवित्र पदार्थ के गुणों को स्वीकारने लगे हैं। उनके अनुसार गाय का गोबर असंक्रामक (Non-conductor) है और इसमें विद्युत निरोधक शक्ति है। यह भी देखा गया है कि आकाश से गिरनेवाली बिजली गोबर के ढेर पर गिरते ही निष्क्रिय (Freege) हो जाती है।

गोबर में 'फास्फोरस' नामक तत्त्व बहुतायत से पाया जाता है। इस तत्त्व में कई संक्रामक रोगों के कीटाणुओं को नष्ट करने की शक्ति होती है। वैज्ञानिक अनुसंधानों से यह भी पता चला है कि गोबर से लिपे गए घरों में परमाणु ऊर्जा के घातक प्रभाव भी नष्ट हो जाते हैं।

प्राचीन भारतीय प्रथा के अनुसार किसी मनुष्य की मृत्यु होने पर घर-आँगन को गोबर से लीपा जाता था, ताकि मृत शरीर के विभिन्न प्रकार के संक्रामक रोगों के कीटाणु नष्ट हो जाएँ और घर के कुटुंबजनों के स्वास्थ्य की रक्षा हो सके। कुष्ठ रोग के उपचार में भी गोमय लाभप्रद होता है। बंदर के काटने पर भी इससे शीघ्र ही पीड़ा कम हो जाती है।

गाय के गोबर में जीवाणु और विषाणुओं को नष्ट करने की क्षमता होती है। प्राचीन मान्यता के अनुसार क्षयरोग उपचार करनेवाले सेनिटोरियम में गाय का गोबर रखने से उसकी गंध से टी.बी. के कीटाणु मर जाते हैं। कीटाणु नष्ट करने, दुर्गंध दूर करने के लिए गाय का गोबर अच्छी-से-अच्छी फिनाइल से भी अधिक प्रभावकारी है। फोड़े-फुंसी, खुजली, रक्तदोष आदि में भी गोमय बहुत प्रभावकारी होता है। गाय के गोबर से बना साबुन चर्म रोगों में लाभप्रद सिद्ध हुआ है। गोमय से बनी धूप-अगरबत्ती वातावरण को शुद्ध करने में उपयोगी पाई गई है।

गोबर का एक और प्रभावी उपयोग बायो-गैस है, जिससे भारत के कई गाँवों में सामाजिक प्रगति देखी गई है। यही नहीं, गोबर के उपलों से उठनेवाला धुआँ प्रदूषण पर नियंत्रण रखता है, साथ ही वायुमंडल में विद्यमान विषाक्त कीड़ों को भी नष्ट करता है। पहले होलिका दहन के लिए केवल गाय के उपलों का ही उपयोग होता था, जिससे वातावरण शुद्ध हो जाता था। उपलों की राख शरीर पर रगड़ने से मृतप्राय शरीर में भी रक्त प्रवाह ठीक हो जाता है।

यह एक दुखद सत्य है कि आधुनिकता के नाम पर हम इस पवित्र पदार्थ के गुणों को उतनी मान्यता नहीं दे रहे, जितना वह उपयोगी है।



गाय का घी और विज्ञान

सनातन कर्मकांड और साधारण पूजा-पाठ में गाय के घी के प्रयोग का विधान है। प्राचीन काल से भारत में गाय के अतिरिक्त और भी कई ऐसे पशु थे जिनके दूध से घी बनता था। ऐसे में मन में एक प्रश्न उठता है कि गाय के घी में ऐसा क्या विशेष है कि हमारे ऋषि-मुनियों ने इसको इतनी प्रमुखता दी है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इस मान्यता के पीछे एक वैज्ञानिक सत्य है, जिसके कारण प्राचीन मनीषियों ने गाय के घी को ही चुना। यदि हम पाँच-छह प्रकार के भिन्न-भिन्न द्रव्यों के दीये जलाएँ तो हमें गाय के घी का वैज्ञानिक आधार आसानी से समझ आ जाएगा। इस प्रयोग के लिए अलग-अलग बंद कमरों में एक दीया भैंस के घी का, एक ऊँट के घी का, एक बकरी के घी का, एक याक के घी का, एक सरसों के तेल का, एक नारियल के तेल का, एक मिट्टी के तेल का दीया जलाएँ और हर दीये के सामने एक-एक व्यक्ति को बैठा दें और उन्हें उन दीयों की लौ पर एकटक देखने के लिए कहें। आप देखेंगे कि कुछ समय बाद उन सबकी आँखों में जलन शुरू हो जाएगी। कुछ की आँखों में पहले तो कुछ की आँखों में कुछ देर बाद जलन अवश्य पैदा होगी।

परंतु जो व्यक्ति गाय के घी के दीये के सामने बैठा होगा, उसकी आँखों में जलन पैदा नहीं होगी, अपितु वह अपनी आँखों में शीतलता महसूस करेगा। इसका वैज्ञानिक कारण है कि गाय के घी के दीये के अलावा दूसरे द्रव्यों से जलनेवाले दीयों से जो धुआँ निकलता है, उसका उत्सर्जन वातावरण और मनुष्य की आँखों के लिए हानिकारक है, कुछ का कम तो कुछ का ज्यादा। परंतु गाय का घी वातावरण व मनुष्य दोनों के लिए हितकर है। यह एक वैज्ञानिक सत्य है, जिसे हमारे मनीषियों ने हजारों वर्ष पूर्व जान लिया था।

इसके अतिरिक्त गाय के घी से हवन में दी गई आहुति से वातावरण की शुद्धि होती है। यही नहीं, यह परमाणु रेडिएशन से वातावरण की रक्षा करता है। गाय के दूध में सूर्य की किरणों का प्रभाव अधिक होता है, जिसके कारण इसका घी सूर्य की भाँति वातावरण को शुद्ध रखने में सहायक होता है।

गाय के घी की इन्हीं विशेषताओं के कारण ऋषि-मुनियों ने इसका चयन सनातन पूजा-पाठ के लिए किया। इस सत्य की छानबीन यदि आधुनिक मानव करना चाहे तो अवश्य करे। पर इस मान्यता को केवल रूढ़िवाद न कहे।



सबसे पहले गणेश की ही पूजा क्यों

जिस प्रकार विष्णु विष्णुलोक और शिव शिवलोक के स्वामी हैं, उसी प्रकार 'गणेश' पृथ्वीलोक के स्वामी हैं। गणेश में पृथ्वी-तत्त्व की प्रधानता है। इसीलिए आपने प्राय: देखा होगा कि किसी भी पूजा-पाठ, जिसमें गणेशजी की कोई प्रतिमा नहीं रखी होती, वहाँ पंडितजी मिट्टी का एक ढेला लेकर उस पर ही मौली बाँधकर 'गणेशजी' की स्थापना कर लेते हैं।

पृथ्वीलोक पर होनेवाले सभी शुभ कार्य बिना किसी विघ्न के संपन्न हों, इसलिए हम गणेशजी का ध्यान कर प्रार्थना करते हैं कि वे अपनी अनुकंपा करें। गणेश सभी कठिनाइयों व अमंगल को दूर करते हैं, इसलिए उन्हें विघ्नेश्वर भी कहते हैं।

पृथ्वीलोक के स्वामी होने के नाते वे दसों दिशाओं के अधिपति भी हैं। पृथ्वी पर किसी अन्य लोक से आनेवाली कोई शक्ति इन्हीं दिशाओं से आती है। इस कारण, दूसरे देवलोकों से पृथ्वीलोक पर पहुँचने के लिए अन्य दैविक शक्तियों को गणेश-शक्ति की सहायता की आवश्यकता होती है। दूसरे देवताओं की कृपा व आशीर्वाद यहाँ पृथ्वीलोक पर हम तक ठीक-ठाक पहुँचे, इसलिए हम गणेशजी से प्रार्थना करते हैं कि वे अन्य देवताओं की कृपा व आशीर्वाद हम तक पहुँचने दें।

गणेश-पूजन सर्वप्रथम करने का एक और कारण यह है कि हम जो प्रार्थना करते हैं, वह शब्दों में होती है, जिसे वेद-पुराणों में नाद-भाषा कहते हैं, जबकि देवताओं की भाषा 'प्रकाश-भाषा' होती है। गणेशजी हमारी नाद-भाषा को देवताओं की प्रकाश-भाषा में रूपांतरित कर देते हैं और इस प्रकार से हमारी प्रार्थना गणेशजी की कृपा से दूसरे देवताओं तक पहुँच जाती है। इन्हीं कारणों से गणेश-पूजन सर्वप्रथम किया जाता है।



गणेश पर लाल फूल व दूब ही क्यों चढ़ाते हैं

मूर्ति-शास्त्र के अनुसार, भगवान् गणेश का रंग लाल है। हमारे शरीर में जो पहला चक्र मूलाधार है, गणपति उस चक्र के स्वामी हैं। मूलाधार चक्र का जो कमल है, उसका रंग लाल हैं। लाल रंग के पुष्पों का स्पंदन गणेश तत्त्व से मेल खाता है, इस कारण गणेश पवित्रता व स्पंदन की ओर शीघ्रता से आकर्षित होते हैं और जल्दी ही प्रसन्न हो जाते हैं। गणेश-पूजन में लाल फूलों के साथ लाल वस्त्र व रक्त चंदन (लाल) का भी प्रयोग किया जाता है। इन सबके पीछे भी यही विज्ञान है।

लाल रंग के पुष्पों के अतिरिक्त गणपति पर दूर्वा (कोमल घास) भी चढ़ाई जाती है। दूर्वा में भी गणेश तत्त्व को आकर्षित करने की शक्ति है, इसलिए गणेशजी पर १, ३, ५, ७ की संख्या में दूब चढ़ाने का विधान है।

जिन मूर्ति या चित्रों पर लाल रंग के फूल व दूर्वा चढ़ाई जाती हैं, वे मूर्ति व चित्र गणेश तत्त्व से शीघ्र ही जाग्रत् हो जाते हैं और घर में सुख-शांति लाते हैं। इन्हीं कारणों से गणेशजी की प्रतिमा व चित्रों पर लाल रंग के फूल, लाल चंदन, लाल वस्त्र व दूर्वा ही चढ़ानी चाहिए, ताकि गणपति ऋद्धि-सिद्धि तथा 'श्री' प्रदान करें।



कौन से गणेश की मूर्ति घर के पूजागृह में रखनी चाहिए

गणेशु की मूर्ति या चित्र की ओर सामने से देखते समय जिस मूर्ति में उनका अग्रभाग हमारी दाईं ओर मुड़ा हुआ हो, ऐसी मूर्ति या चित्र को ही घर के पूजागृह में रखना चाहिए। इस प्रकार की मूर्ति को वाममुखी मूर्ति या चित्र कहते हैं। ऐसी मूर्ति घर में सुख-शांति लाती है। इसका कारण यह है कि गणेश की चंद्र-शक्ति इन मूर्तियों या चित्रों में अधिक सक्रिय-प्रवाहित होती है। वाममुखी उत्तर दिशा को दरशाती है, ऐसी प्रतिमाएँ अध्यात्म की दृष्टि से भी अपेक्षित हैं। यही कारण है कि घरों के पूजागृहों में वाममुखी गणपति प्रतिमा ही स्थापित की जाती है।

गणपति की जिन मूर्तियों व चित्रों में उनकी सूँड़ का अगला भाग सामने से हमारी बाईं ओर मुड़ा दिखे, उन्हें दक्षिणमूर्ति कहते हैं। ऐसी मूर्तियों में गणेशजी की सूर्य नाड़ी सक्रिय व प्रवाहित होती है। सूर्य नाड़ी के कारण वातावरण उत्तेजित रहता है, जो घर की शांति के लिए हितकर व अपेक्षित नहीं होता। दक्षिणामूर्ति गणपति, दक्षिण दिशा, जो यमलोक को दरशाती हैं, के द्योताक हैं। दक्षिणामुखी मूर्ति की पूजा सामान्य विधि से नहीं की जाती, क्योंकि गृहस्थ लोग इस प्रकार की मूर्तियों की पूजा का विधि-विधान नहीं जानते। अत: घरों में दक्षिणामुखी गणपति नहीं रखने चाहिए।

दक्षिण दिशा यमलोक की दिशा है, जहाँ मनुष्य के पाप-पुण्य का हिसाब रखा जाता है। इसलिए यह दिशा अप्रिय है। इस कारण ऐसी मूर्ति बिना कर्मकांड के पूजनी नहीं चाहिए। परंतु मंदिरों के लिए ऐसी मूर्तियाँ उपयुक्त हैं, क्योंकि वहाँ पूजा-पाठ विधि-विधान व समयानुसार होता है।

मूर्ति के खंडित या भंग होने पर उस पर अक्षत (साबुत चावल) डालकर जल में विसर्जित कर देना चाहिए या फिर आदर से पीपल के वृक्ष के नीचे रख देना चाहिए।



श्राद्ध क्यों मनाएँ हम

भारतीय संस्कृति की एक बड़ी विशेषता यह है कि हमें अपने उन निकट संबंधियों से भी श्रद्धा भाव से जोड़े रखती है, जो आज सशरीर न होकर दिवंगत हैं और जिन्हें हम पितरों के नाम से जानते हैं।

आश्विन मास के पूर्णमासी से अमावस तक की अवधि को श्राद्धपक्ष के नाम से जाना जाता है। श्राद्ध का माहात्म्य एवं विधि का वर्णन विष्णु, वाराह, वायु व मत्स्य पुराण एवं महाभारत व मनुस्मृति आदि सनातन शास्त्रों में वर्णित है। कृष्णपक्ष की पितृमोक्ष अमावस के दिन सूर्य एवं चंद्र की युति होती हैं। सूर्य कन्या राशि में प्रवेश करता है। इन दिनों हमारे पितर यमलोक से अपना निवास छोड़कर सूक्ष्म रूप में मृत्युलोक में अपने वंशजों के निवास-स्थान पर रहते हैं और यह अपेक्षा करते हैं कि उनके वंशज उनके लिए कुछ-न-कुछ तर्पण-अर्पण करें, जिसे पाकर वे तृप्त हों। पुराणों के अनुसार धर्मराज यम का यह वरदान है कि—

''पितृपक्ष के दौरान जो मृतात्माओं के लिए अन्न-जल, तिल आदि अर्पित करेगा, वह सामग्री मृतात्माओं को, वे जहाँ भी होंगी, अवश्य प्राप्त होगी।''

जो आत्माएँ निस्संतान स्वर्गवासी हो जाती हैं, उन मृतात्माओं के लिए यदि कोई व्यक्ति इन दिनों में उनको श्राद्ध तर्पण करता है या जलांजलि देता है तो वह भी उन्हें पहुँचती है। एक अच्छी संतान अपने जीवित माता-पिता की सेवा तो करती ही है, उनके शरीर छोड़ने के बाद भी उनके प्रति श्रद्धा व आदर की भावना रखती है। श्राद्ध-विधि द्वारा हम अपने दिवंगत माता-पिता एवं अन्य संबंधियों, जिन्होंने जीवन भर हमें संसार के योग्य बनाया, के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं। श्राद्ध विधि द्वारा हम अपने पितृऋण को चुकाते हैं। यदि हम ऐसा नहीं करते तो मृतात्माएँ अतृप्त रहती हैं और रुष्ट हो जाती हैं, जिसके कारण कुटुंब में अनिष्ट होने शुरू हो जाते हैं। जैसे परिवार में संतान का पैदा न होना, बेटे-बेटियों का विवाह देर से होना या फिर न होना आदि। घर-परिवार में कलह होना, धन की कमी होना आदि अनिष्ट घटनाएँ पितरों के रुष्ट होने के कारण से होती हैं। श्राद्ध की अवधि में आनेवाली पूर्णिमा को 'नाना' का श्राद्ध मनाते हैं और अमावस्या के दिन बाकी उन सब पितरों का, जिनकी तिथि हमें मालूम नहीं होती।

हमारे पितृ तृप्त व संतुष्ट रहें, इसलिए पितृपक्ष के दौरान उनकी पुण्य तिथियों पर हम श्राद्ध करते हैं। शास्त्रों में यह भी लिखा है कि हर मास अमावस्या के दिन हमें अपने पितरों के निमित्त कुछ-न-कुछ तर्पण-अर्पण अवश्य करना चाहिए, ताकि वे सदा तृप्त रहें और हमें आशीर्वाद देते रहें। पितृलोक के स्वामी भगवान् दत्तात्रेय हैं, जिनमें विष्णुतत्त्व अधिक है। 'श्री गुरुदेव दत्त' मंत्र का जाप मनुष्य को पितृ-दोष दूर करने में बहुत सहायक है।

मृत्यु के बाद जीवात्मा को अपने कर्मानुसार स्वर्ग या नरक में स्थान मिलता है और पाप-पुण्य के क्षीण होने पर वह प्राणी पुनः मृत्युलोक (पृथ्वी) पर आता है। स्वर्ग जानेवाले मार्ग को पितृयान-मार्ग कहते हैं। पितृयान-मार्ग से जानेवाले, पितृलोक से होकर चंद्रलोक में जाते हैं, जहाँ वे 'अमृतान्न' का सेवन करके अपना निर्वाह करते हैं। यह अमृतान्न कृष्णपक्ष में चंद्र की कलाओं के साथ-साथ क्षीण होता रहता है। अमावस तक यह अमृतान्न समाप्त हो जाता है और मृतात्माओं के आहार के लिए कुछ नहीं बचता, इसलिए कृष्ण पक्ष की अमावस के दिन वंशजों को अपने पितरों के लिए आहार पहुँचाना चाहिए, ताकि उस दिन वे भूखे न रहकर तृप्त रहें और अपने वंशजों को आशीर्वाद दें। इसलिए हर अमावस के दिन हमें पितृ-तर्पण अवश्य करना चाहिए। ऐसा करने से मनुष्य अपने पितृ-ऋण से भी मुक्त होता है।

इसलाम धर्म में यद्यपि श्राद्ध नहीं मनाते, परंतु शव-ए-बारात के दिन वे भी अपने पूर्वजों को याद करते हैं और उनकी कब्र पर जाकर फूल चढ़ाते व रौशनी करते हैं तथा कुरान शरीफ का पाठ करते हैं। शव-ए-बारात मुसलमानों के शाहवान महीने में आता है।

आधुनिक एवं नास्तिक लोग यह शंका कर सकते हैं कि यहाँ पृथ्वी पर किया दान या तर्पण-अर्पण पितरों को जो अब बिना शरीर के हैं और किसी अज्ञात लोक में हैं, उन तक कैसे पहुँच सकता है? गुरु नानक देवजी ने जब इस प्रथा पर प्रश्नसूचक चिह्न लगाया था, उसके पीछे उनका भाव यह था कि हमें कोई भी धार्मिक कार्य मात्र आडंबर से नहीं करना चाहिए, बल्कि उस कार्य में श्रद्धा होनी अनिवार्य है।

हमारे इस कार्य के पीछे प्रकृति का सूक्ष्म विज्ञान काम करता है, जिसके अनुसार हमारी श्रद्धा, भावना, प्रेम से युक्त तर्पण-अर्पण सूक्ष्म रूप से हमारे पितरों तक पहुँचता है। एक और ध्यान देने योग्य बात यह है कि जिन आत्माओं को शरीर प्राप्त नहीं है, वे पिंड रूप में आकाशमंडल में व्याप्त रहती हैं। इन पिंडाकार आत्माओं का कोई पेट नहीं होता और न ही देखने के लिए इनके पास चक्षु होते हैं, पर इनकी सूँघने की शक्ति बड़ी तेज होती है। इसलिए हम जो कुछ पदार्थ खाने-पीने के लिए पितरों को देते हैं, ये पिंडाकार आत्माएँ उनकी सुगंध से अपना पेट भर लेती हैं। प्रकृति इस प्रकार हमारी स्थूल खाद्य सामग्री को हमारे पितरों के प्राप्त करने योग्य बनाती है। इस सत्य की जानकारी के लिए भौतिक बुद्धि की नहीं, अपितु सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता है।

❑

नवरात्रों का वैज्ञानिक व आध्यात्मिक रहस्य

'नवरात्र' शब्द से विशेष महत्त्व रखनेवाली नौ रात्रियों का बोध होता है। इस काल में 'आदि शक्ति' के नौ रूपों की पूजा दिन से रात्रि-पर्यंत की जाती है। 'यात्र' शब्द सिद्धि का प्रतीक है। भारतीय ऋषि-मुनियों ने रात्रि को आध्यात्मिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। यदि रात्रि का कोई वैज्ञानिक रहस्य न होता, तो ऐसे विशेष उत्सवों को रात्रि न कहकर दिवस कहा जाता। किंतु दीपावली को दिन नहीं महारात्रि कहकर संबोधित किया जाता है। इसी प्रकार अन्य महारात्रियों में होलिका-महारात्रि और शिव-महारात्रि भी महत्त्वपूर्ण हैं। इसका वैज्ञानिक कारण है, दैविक शक्तियों का रात्रि में अधिक सक्रिय होना, क्योंकि दिन में सूर्य की किरणें दैविक तरंगों को छिन-भिन्न कर देती हैं।

भारतीय मनीषियों ने वर्ष में दो बार विशेष रूप से नवरात्रों का पर्व मनाने का विधान बताया है। सर्वप्रथम विक्रम संवत् के प्रारंभ के दिन से अर्थात् चैत्र मास शुक्लपक्ष की प्रतिपदा (पहली तिथि) से नौ दिन अर्थात् नवमी तक नवरात्र निश्चित किए गए हैं। इसी प्रकार ठीक छह मास बाद शारदीय-नवरात्र हर दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण व फलदायी माने गए हैं। इसका कारण है सौरमंडल में पृथ्वी की भौगोलिक स्थिति। इन दिनों सूर्य से प्रक्षेपित तरंगें कोमल होती हैं और सात्त्विक तरंगों को अधिक छिन्न-भिन्न नहीं कर पातीं।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि दोनों नवरात्र ऋतुओं के संधिकाल में आते हैं जब एक ऋतु से दूसरी ऋतु में परिवर्तन होता है। इसका वैज्ञानिक कारण यह है कि संधिकाल में आकाशमंडल में ग्रहों की स्थिति व वातावरण दोनों मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के लिए उपयुक्त होते हैं। ऋतु-परिवर्तन के कारण मनुष्य के शरीर की रासायनिक रचना में परिवर्तन होता है। यही कारण है कि इन नौ दिनों में व्रत करना हितकर है, क्योंकि व्रत करने से हमारे शरीर की ऊर्जा बढ़ती है, जो हमारे स्थूल व सूक्ष्म दोनों शरीरों पर प्रभाव डालती है। यही नवरात्रों का आध्यात्मिक रहस्य है।



नवग्रह और तत्त्व-विज्ञान

इस सृष्टि की रचना कब और कैसे हुई? ब्रह्मांड के रहस्य क्या हैं? यह सब जानने के लिए मनुष्य निरंतर प्रयासरत रहा है। हमारे ऋषि-मुनियों ने प्रकृति का गहन अध्ययन कर हमारी धार्मिक मान्यताओं के वैज्ञानिक रहस्यों को उद्घाटित किया है।

उनके द्वारा रचित तत्त्व-विज्ञान का अध्ययन हमें बताता है कि कौन सा ग्रह किस देवता के तत्त्वों को धारण करता है, ताकि उसके अनुसार उस देवता को पूजा- पदार्थ अर्पित किए जा सकें। विधिवत् अर्पण करने से अर्पित करनेवाले की काया-शक्ति और आत्मशक्ति दोनों बढ़ती हैं।

सूर्य— सूर्य ग्रह में अग्नि तत्त्व की प्रधानता है। इसलिए इसके देवता रुद्र-शिव हैं। जिस धातु में यह तत्त्व पाया जाता है—वह ताँबा है। इसीलिए इस ग्रह का रंग ताँबे सा लाल होता है। सूर्य देवता को अर्पित किया जानेवाला फूल जवाकुसुम होता है और फल आँवला होता है। इस जवाकुसुम में आत्मशक्ति को बढ़ानेवाले तत्त्व हैं। इसकी जड़ से वे औषधियाँ बनती हैं, जिनमें मानसिक शक्ति को बल मिलता है। सूर्य को अर्पित किए जानेवाले फल आँवले में आँखों की रोशनी को बढ़ाने की शक्ति होती है।

चंद्र— चंद्र-ग्रह में जल तत्त्व की प्रधानता है। इसलिए इसकी देवी पार्वती हैं। जिस धातु में यह तत्त्व पाया जाता है—वह चाँदी है। इस ग्रह का रंग श्वेत शंख सा होता है। पार्वती की अर्चना के लिए दूब अर्पित की जाती है। पैरों में बिछी हुई दूब में काया-कल्प की शक्ति होती है। इसीलिए नंगे पाँव दूब पर चलने का विधान भी है। काया-कल्प के लिए जो पाँच औषधियों का पंचामरा बनाया जाता है, उसमें तीन गाँठ की दूब जरूर डाली जाती है।

मंगल— मंगल ग्रह में अग्नि तत्त्व प्रधान होता है। इसके इष्ट गणपति हैं। जिस धातु में यह तत्त्व पाया जाता है—वह सोना है। इस अग्नि तत्त्व प्रधान ग्रह का रंग रक्तिम लाल होता है। गणपति की आराधना के लिए लाल कनेर अर्पित किए जाते हैं, साथ में दूब भी। लाल कनेर में बुद्धि-बल को विकसित करने के तत्त्व हैं। लाल कनेर की छाल से त्वचा रोग की औषधियाँ बनाई जाती हैं।

बुध— बुध ग्रह में पृथ्वी तत्त्व प्रधान होता है। इसके इष्ट विष्णु हैं, जो जीवों के पालनहार हैं। जिस धातु में यह तत्त्व पाया जाता है—वह काँसा है। पृथ्वी तत्त्व प्रधान ग्रह का रंग विचित्र हरा होता है। विष्णु पूजा में अशोक, कदंब, पाटल, मोंगरा, कुंदकलि और शंखावली के फूल होते हैं। अशोक, कदंब आदि फूलों में राजयोग की शक्ति होती है और शंखावली के फूल वाणी-शक्ति को बढ़ाते हैं।

बृहस्पति— बृहस्पति ग्रह में आकाश तत्त्व की प्रधानता है। इसलिए इसके देवता ब्रह्मा और शिव हैं। जिस धातु में यह तत्त्व पाया जाता है—वह चाँदी-सोना है। आकाश तत्त्व प्रधान बृहस्पति ग्रह का रंग पीला है। इसके देवताओं की आराधना के लिए पीला कनेर अर्पित किया जाता है। पीले कनेर की सुगंधि विवेक-शक्ति को बढ़ाती है। जीव-रक्षा का गुण भी इसमें समाया रहता है।

शुक्र— शुक्र ग्रह में जल-तत्त्व प्रधान होता है। इसलिए लक्ष्मी और सरस्वती इसकी देवियाँ हैं। जिस धातु में यह तत्त्व पाया जाता है—वह चाँदी है। जल तत्त्व प्रधान शुक्र ग्रह का रंग सफेद होता है। लक्ष्मी को लाल रंग के गुलाब अर्पित किए जाते हैं और सरस्वती को सफेद गुलाब।

लाल गुलाब में गति तत्त्व है, जो काया को क्रियाशील और कर्मशील करता है। सफेद गुलाब के तत्त्व अक्षर शक्ति के रहस्य खोलते हैं, साथ ही परा-विद्या का ज्ञान बढ़ाते हैं। इन विद्याओं के लिए सफेद फूल चढ़ाते हैं। लाल

गुलाब की पत्तियों से गुलकंद बनाया जाता है, जिसका आँतों की शुद्धि के लिए प्रयोग किया जाता है।

शनि—शनि ग्रह में वायु तत्त्व की प्रधानता होती है। इसलिए इसके देवता यम और रुद्र हैं। जिस धातु में यह तत्त्व पाया जाता है—वह लोहा और शीशा हैं। वायु तत्त्व प्रधान शनि का रंग नीला है। इसके देवताओं को नील-अर्क और धतूरे के फूल अर्पित किए जाते हैं। धतूरे के पत्तों का रस अस्थमा जैसे रोगों की औषधियों में डाला जाता है।

राहु—राहु एक छाया ग्रह है, जिसमें वायु तत्त्व प्रधान होता है। इसकी देवी दुर्गा हैं। जिस धातु में यह तत्त्व पाया जाता है—वह शीशा है। वायु-तत्त्व प्रधान राहु का रंग काला है। दुर्गा की पूजा के लिए जवाकुसुम अर्पित किए जाते हैं।

केतु—केतु भी राहु की तरह एक छाया ग्रह है, जिसमें वायु तत्त्व प्रधान होता है। इसके देवता ब्रह्मा हैं। पंच धातु में इसके तत्त्व पाए जाते हैं। इसका रंग चितकबरा होता है। इसका पूजन नहीं होता, पर इसके नाम पर किसी पर्वत पर जाकर काले रंग की ध्वजा फहराई जाती है। यह पतन को रोकने का और नाम को ऊँचा करने का संकेत है।

फूलों में समाए हुए तत्त्व के गुण-धर्म तभी प्रभावित कर पाते हैं जब वे ताजा और खिले हुए हों। मुरझाए, ढले और मसले हुए फूल अपने तत्त्व खो देते हैं, क्योंकि तब उनकी प्राणवायु और धनंजयवायु उस अवस्था में समाप्त हो जाती है। इसलिए ताजे और साफ-सुथरे फूल-पत्तियाँ ही देवताओं पर चढ़ाने चाहिए, ताकि उनसे मिलनेवाला लाभ प्राप्त हो सके।



ग्रह-नक्षत्रों का मनुष्य पर प्रभाव : वैज्ञानिक या काल्पनिक

प्राचीन चिंतन के अनुसार जो कुछ ब्रह्मांड में व्याप्त है, वह मनुष्य के शरीर के भीतर भी है। सृष्टि की रचना के समय परमात्मा ने मनुष्य के शरीर की रचना इस प्रकार से की है, जिसमें ईश्वरीय सभी तत्त्व विद्यमान हों। अग्नि देवता ने वाणी बनकर मनुष्य के मुख में प्रवेश किया और वायु देवता ने प्राण बनकर। इसी प्रकार सूर्य देवता ने मनुष्य की आँखों में अपना स्थान बनाया, दिशा देवता ने कानों में, बृहस्पति देव ने काया के रोम-रोम में तथा चंद्र देव ने उसके मन (हृदय) में अपना स्थान बना लिया।

पृथ्वी और ब्रह्मांड का सनातन संबंध है। भारत के मनीषियों ने संपूर्ण ब्रह्मांड को २७ नक्षत्रों मे बाँटा है। ये सभी नक्षत्र अपने-अपने प्रभाव को लिये हुए मनुष्य के शरीर में भी होते हैं। कृतिका मनुष्य के सिर में, रोहिणी माथे में, मृगशिरा भौंहों में, आद्रा आँखों में, पुनर्वसु नाक में, पुष्य चेहरे में, अश्लेषा कानों में, मघा होंठों में, पूर्वाफाल्गुनी दाएँ हाथ में, उत्तरा फाल्गुनी बाएँ हाथ में, हस्त अँगुलियों में, चित्रा गरदन में, स्वाति सीने में, विशाखा छाती में, अनुराधा उदर में, ज्येष्ठा जिगर में, मूल कोख में, पूर्वाषाढ़ा पीठ में, उत्तराषाढ़ा रीढ़ की हड्डी में, श्रवण कमर में, शतभिषा दाईं टाँग में, रेवती टखनों में, अश्विनी पैरों में ऊपरी हिस्से में और भरणी पैरों के तलवों, घनिष्ठा बाई टाँग में, पूर्वा भाद्रपद व उत्तरा भाद्रपद मस्तिष्क के दाएँ व बाएँ भाग में स्थित हैं।

हमारे सनातन ऋषि-मुनियों द्वारा प्रतिपादित काया-तंत्र के अनुसार मनुष्य के शरीर में एक महीने चंद्र-नाड़ी (स्त्री) प्रधान रहती है और एक महीने सूर्य-नाड़ी (पुरुष)। यही राशि-विज्ञान है, जिसके अनुसार पहली राशि मेष पुरुष होती है तो दूसरी राशि वृषभ नारी। इसी प्रकार अगली मिथुन राशि पुरुष तो उससे अगली कर्क नारी। सिंह पुरुष और कन्या नारी। तुला राशि पुरुष तो उससे अगली वृश्चिक नारी। धनु राशि पुरुष तो मकर नारी और इसी प्रकार कुंभ पुरुष तो मीन राशि नारी।

यही भारतीय चिंतन का अर्धनारीश्वर रूप है, जिसमें ईश्वर का आधा हिस्सा पुरुष होता है और आधा नारी। यही काया-विज्ञान **यिन** और **यांग** के रूप में चीन देश का दर्शन है और यही आधुनिक विज्ञान के अनुसार प्रत्येक मनुष्य के सिर का बायाँ और दायाँ हिस्सा है—बायाँ पुरुष और दायाँ नारी। सिर का बायाँ हिस्सा नारी हिस्सा शरीर के बाएँ हिस्से में तरंगित होता है। दोनों के एक-दूसरे के आकर्षण से यह काया चलती है। इन्हीं का मिलन, इन्हीं का संगम, काया-विज्ञान है। इन्हीं के संगम में जब कुछ रुकावट आती है तो काया में शक्ति का संचार रुक जाता है और इसी शक्ति को प्रवाहित करने के लिए हम पूजा-पाठ, कर्मकांड आदि करते हैं।

ब्रह्मांड स्थित हमारे सौरमंडल के ग्रह-नक्षत्र जब अपनी स्थिति एक राशि से दूसरी राशि में बदलते हैं तो मनुष्य के शरीर में स्थित जो लघु सूक्ष्म सौरमंडल है, उसमें भी परिवर्तन होता है, जिसका प्रतिकूल या अनुकूल प्रभाव मनुष्य के कार्यों व सोच दोनों पर पड़ता है। इन ग्रह-नक्षत्रों की बदलती स्थिति से मनुष्य राजा से रंक या रंक से राजा बन जाता है। यह बदलाव इसलिए होता है, क्योंकि जब बाह्य जगत् के ग्रह-नक्षत्र अपना स्थान बदलते हैं तो मनुष्य के आंतरिक ग्रह-नक्षत्रों का प्रभाव भी बदल जाता है, जिसका असर मनुष्य के जीवन और उसकी परिस्थिति पर पड़ता है। यह तथ्य एक सत्य है, कल्पना नहीं। जब ग्रहों का अनुकूल प्रभाव पड़ता है तो उसके फैसले सही होते हैं और वह अवसर का पूरा लाभ उठाकर 'राजा' बन जाता है। इसी प्रकार, जब ग्रह प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं

तो मनुष्य के निर्णय गलत हो जाते हैं, परिणामस्वरूम वह हानि उठाता है। जीवन में उठना-गिरना मनुष्य के उचित या अनुचित निर्णय पर निर्भर करता है। इसलिए कहा गया है कि ईश्वर से जब कुछ माँगना हो तो सुबुद्धि माँगिए। गायत्री मंत्र का सार भी ईश्वर से बुद्धि माँगने का है। यदि आपके पास सही बुद्धि है तो आप मिट्‌टी को भी सोना बना देंगे। ग्रहों के प्रभाव से मनुष्य की बुद्धि ही तो प्रभावित होती है।



किसी की निंदा क्यों नहीं करनी चाहिए

सनातन शिष्टाचार में एक नियम यह है कि हमें किसी की निंदा नहीं करनी चाहिए। इस मान्यता के पीछे 'शब्द-विज्ञान' का एक नियम कार्य करता है। शब्दों में अपनी एक आंतरिक शक्ति होती है। जब हम बोलते हैं तो वायु द्वारा शब्दों को तरंगों के साथ बाहर फेंकते हैं। जब ये वायु-तरंगें सुननेवाले के कानों में पड़ती हैं तो वह उन शब्दों के आंतरिक अर्थ के अनुसार अनुकूल या प्रतिकूल प्रतिक्रिया करता है। जब हम किसी की चापलूसी या प्रशंसा करते हैं तो सुननेवाला खुश होता है। और जब हम किसी को अपशब्द कहते हैं तो वह दु:खी, आहत या फिर उत्तेजित हो जाता है। इस प्रकार केवल शब्दों के प्रयोग मात्र से हम दूसरों पर प्रभाव डालते हैं।

सूर्य-विज्ञान के अनुसार संसार में अड़तालीस प्रकार की वायु हैं, जिनमें से हमारे शरीर में पाँच प्रकार की वायु वास करती हैं, जो हमारे शरीर के विभिन्न अंगों में वास करती हैं। उड़ान-वायु मनुष्य के मस्तिष्क में वास करती हैं और वाणी की अभिव्यक्ति का कार्य निभाती हैं। प्रकृति के नियमों में एक नियम यह भी है कि 'जो जैसा करेगा, वैसा भरेगा' और कौन कैसा कर रहा है, इसका हिसाब प्रकृति अपने आप रखती है। कौन अच्छा कर रहा है या बुरा, यह निर्णय करने का अधिकार प्रकृति या ईश्वर का है। जब हम किसी व्यक्ति की बुराई या निंदा करते हैं तो हमारा यह कृत्य प्रकृति के कार्यों में हस्तक्षेप है, और फिर वह इसके लिए हमें दंडित करती है।

उड़ान-वायु, जो वाणी द्वारा हमारे मन के भावों की अभिव्यक्ति करती है, में अग्नि-तत्त्व होता है, जो निंदित व्यक्ति के पाप को जलाकर भस्म कर देती है और पलटकर उसका प्रभाव उलटा निंदा करनेवाले पर डालती है। इस प्रकार निंदक स्वयं ही अपने शब्दों का शिकार हो जाता है। इसी विज्ञान के आधार पर मनीषियों ने कहा है कि कभी किसी की बुराई मत करो, क्योंकि इसका उलटा असर पड़ता है।

इसी नियम के आधार पर ईसाई मत में 'पाप की आत्म स्वीकृति' (Confession) का नियम है। जब मनुष्य से कोई पाप हो जाए तो उसके प्रभाव से बचने के लिए चर्च में जाकर मुखर वाणी से अपने पापकृत्य को बोलकर स्वीकार करना होता है। ऐसा करने से प्रकृति आपको क्षमा कर देगी। ईसाई धर्म की इस मान्यता में भी उड़ान-वायु में जो अग्नि तत्त्व है, वह कार्यरत होता है। जब आप बोलकर अपना पाप स्वीकारते हैं तो वाणी उसके प्रभाव को जलाकर भस्म कर देती है और आप पाप-मुक्त हो जाते हैं। 'कन्फेशन' के पीछे यही शब्द विज्ञान है।

शब्द-विज्ञान से जुड़ी एक और मान्यता यह है कि 'हमें कभी किसी को अपना गुरु मंत्र नहीं बताना चाहिए।' और न ही 'हमें कभी अपने द्वारा किए गए शुभ, हितकर और अच्छे कार्यों को किसी को बताना चाहिए', ऐसा करने से हमारे गुरु मंत्र की शक्ति समाप्त हो जाती है। गुरु मंत्र बताने का अर्थ है कि आपने अपना 'पास-वर्ड' (Password) किसी को दे दिया—अर्थात् अपनी जमापूँजी दूसरे को दे दी। अपने अच्छे कार्यों का वर्णन करके जो कुछ पुण्य आपने कमाया था, गँवा दिया। इसके पीछे भी उड़ान-वायु का भस्म कर देनेवाला विज्ञान ही है।

आज के इस दिखावेवाले युग में हम धर्म को फैशन मानते हैं। इसलिए सच्ची श्रद्धा न होने पर भी दिखाने के लिए गीता पाठ, सत्संग आदि में खूब सज-सँवरकर जाते हैं। हम दान थोड़ा करते हैं पर उसका ढिंढोरा ज्यादा पीटते हैं। दूसरों की बुराई करने में हमें आनंद मिलता है। अपने द्वारा किए पाप हम मन के सबसे नीचेवाले लॉकर में छुपाते हैं और अपने गुणों का बखान करते हैं। ऐसे में यदि सबकुछ होने पर भी हमारे मन में शांति नहीं है तो आश्चर्य कैसा?



घोड़े की नाल की अँगूठी और शनि ग्रह

शनि नवग्रहों में अपना अलग ही स्थान रखते हैं। पुराणों में इन्हें प्रकृति का न्यायाधीश कहा गया है। चित्रगुप्त मनुष्य के अच्छे-बुरे कर्मों का लेखा-जोखा जो रखते हैं, शनिदेव उन पर एक निष्पक्ष न्यायाधीश की तरह निर्णय लेते हैं और कर्मानुसार दंड देते हैं।

शनि सूर्य व उनकी दूसरी पत्नी छाया के पुत्र हैं। ये नील वर्ण हैं, कुछ के अनुसार ये श्याम वर्ण हैं। शनि का रत्न 'इंद्रनील' (नीलम) है। इनका अनाज काले उड़द, वस्त्रों का रंग काला, वाहन गिद्ध और धातु लोहा है। सौरमंडल का यह अद्वितीय और अनूठा ग्रह किसी भी व्यक्ति को राजा से रंक और रंक से राजा बनाने की क्षमता रखता है। हमारे प्राचीन तत्त्व-विज्ञान के अनुसार शनि ग्रह में वायु तत्त्व प्रधान होता है। जिस व्यक्ति के शरीर में वायुदोष होगा, उस व्यक्ति को वायु विकार के रोग होंगे, जैसे जोड़ों मे दर्द, पेट में गैस बनना, घुटनों और कुहनियों में पीड़ा आदि।

तत्त्व-विज्ञान के अनुसार जिस तत्त्व के कारण जब कोई विकार पैदा हो, तब उसी के विरोधी तत्त्व को लेने या धारण करने से पीड़ा व विकार का निदान होता है। वायु-विकार दूर करने के लिए और शनि ग्रह के कुप्रभावा को शांत करने के लिए ऋषि-मुनियों ने घोड़े की नाल की अँगूठी या छल्ला धारण करना हितकर माना है।

प्राचीन विज्ञान इस विषय में बहुत गहरे में उतरता है। जिस घोड़े की नाल से छल्ला बनाना होता है, वह शहरों में ताँगे या टमटम के आगे जुतनेवाले घोड़े की नाल से बना नहीं होना चाहिए। शहरों की पक्की सड़कों पर चलनेवाले घोड़े की नाल में वह असर नहीं पाया जाता जो शनिदोष व वायु विकार को दूर कर सके। इसके लिए ऐसा घोड़ा ढूँढ़ा जाता है, जो कई बरसों से घने जंगलों में दौड़ता रहा हो। जंगल की मिट्टी से और वहाँ की जंगली घास, जड़ी-बूटियों से उसकी नाल में वे सब तत्त्व समा जाते हैं, जो शनिदोष को दूर करने में सक्षम होते हैं।

जंगल और घास पर दौड़नेवाले घोड़े में एक और विशेषता यह भी होनी चाहिए कि वह रंग में काला हो, क्योंकि काला रंग शनि का अपना रंग है। रंग-विज्ञान के अनुसार काला रंग सूर्य के सातों रंगों को अपने में समा लेता है। इसका अर्थ यह हुआ कि काले घोड़े में सूर्यशक्ति को समाविष्ट करने की क्षमता दूसरे रंग के घोड़ों से अधिक होती है। सूर्य की सौर शक्ति के कारण काले घोड़े के पैरों में लगी नाल लगातार सूर्य की गरमी ग्रहण करती रहती है। सूर्य की गरम के साथ एक और विज्ञान इस घोड़े की नाल में कार्यरत रहता है, वह है उसका सतत जमीन पर टप-टप चलना, जिससे उसका लोहा विशिष्ट बन जाता है। उस लोहे पर लगातार टप-टप चोट से उसकी आंतरिक अणु रचना बदल जाती है। यानी नाल के लोहे का आंतरिक एटॉमिक स्ट्रेक्चर (Atomic structure) सतत टप-टप चाल से बदल जाता है। ऐसे विशिष्ट नाल के लोहे से बना छल्ला या अँगूठी अवश्य ही शनिदोष निवारण का अचूक उपाय है। पर क्या ऐसा घोड़ा मिलना आसान है? ऐसे घोड़े के अगले दाहिने पाँव की नाल से बना छल्ला धारण करें तो यह आपको मनोवांछित फल देगा।

परंतु आजकल हर जगह काले घोड़े की नाल आराम से मिल जाती है; पर यह हमारे किसी काम की नहीं होती, क्योंकि इसमें वह विशिष्टता नहीं होती जो होनी चाहिए। अब अगर लोहे का छल्ला शनिदोष निवारण नहीं कर पा रहा है, तो इसके पीछे जो विज्ञान है उसका दोष क्या?

❑

क्या रत्नोंवाली अँगूठियाँ पहनने का मनुष्य पर प्रभाव पड़ता है

सौरमंडल के समस्त ग्रह सूर्य के चारों ओर ३६० डिग्री के वृत्ताकार में परिक्रमा करते हैं। सौरमंडल के इस वृत्ताकार को १२ राशियों व २७ नक्षत्रों में विभाजित किया हुआ है। क्योंकि सौरमंडल के ग्रह व नक्षत्र सतत घूमते रहते हैं। इस कारण पृथ्वी पर रहनेवालों पर उनका प्रभाव समयानुसार बदल-बदलकर पड़ता है।

सनातन मनीषियों के अनुसार बाह्य ब्रह्मांड मनुष्य के शरीर में भी सूक्ष्म रूप में विद्यमान है। इसलिए बाह्य ब्रह्मांड का आंतरिक ब्रह्मांड पर सतत प्रभाव पड़ता रहता है। यह प्रभाव अनुकूल होगा या प्रतिकूल, यह व्यक्ति विशेष के जन्म के समय की ग्रह-स्थिति पर निर्भर करता है।

मनुष्य के अतिरिक्त प्रकृति के अन्य पदार्थों पर भी ग्रहों का प्रभाव पड़ता है। किस पदार्थ पर कितना प्रभाव पड़ेगा, यह उस पदार्थ की अपनी प्राकृतिक संरचना पर निर्भर करता है। सनातन ऋषि-मुनियों ने अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला कि प्रकृति में भूगर्भ से निकलनेवाले कुछ विशेष रत्नों में ग्रहों के द्वारा प्रक्षेपित तरंगों को आकर्षित करने की क्षमता है। उनके अनुसार माणिक रत्न सूर्य की तरंगों को, नीलम शनि की, पुष्पराग (पुखराज) बृहस्पति की, मोती चंद्रमा की, हीरा शुक्र की, प्रवाल (मूँगा) मंगल की, वैदूर्य राहु की, गौमेद केतु की तथा पन्ना बुध की तरंगों को आकर्षित करने की क्षमता रखते हैं। यह इसलिए होता है, क्योंकि इन रत्नों की वेव लेंथ (Wavelength) और ग्रहों की वेव लेंथ एक-दूसरे से मिलती हैं। इस कारण ये एक-दूसरे पर प्रभाव डालते हैं।

जब ब्रह्मांड में घूमते ग्रह पृथ्वी पर अपना अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं तो कई व्यक्तियों पर उनका वैसा ही प्रभाव पड़ता है। हमारे सनातन ऋषि-मुनियों ने ग्रहों के प्रभाव को कम करने के लिए या बढ़ाने के लिए इन रत्नों को धारण करने का प्रावधान किया है। किस व्यक्ति विशेष को कौन सा रत्न धारण करना चाहिए, यह निश्चित करने के लिए ज्योतिषियों के पास प्राय: लोग जाते हैं। परंतु यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह कि किस व्यक्ति को कौन सा रत्न धारण करना है और वह भी कितना बड़ा, कब और कैसा धारण करना है, यह सब अपने में एक अलग ही विज्ञान है। यह विज्ञान हर ज्योतिषी दक्षता के साथ नहीं जानता, इसलिए रत्न धारण करनेवालों को इन रत्नों का अपेक्षित परिणाम नहीं मिलता। इस स्थिति के लिए दोष रत्न-विज्ञान का नहीं, अपितु इनको धारण करानेवाले ज्योतिषियों का है, क्योंकि वे उस व्यक्ति की जन्मकुंडली ठीक से नहीं पढ़ते और रत्न धारण करने को कह देते हैं।

किसी रत्न को धारण करने से पूर्व उसे शुभ मुहूर्त पर खरीदना होता है और वह भी उस रत्न से संबंधित दिन को। फिर उसे सही समय पर स्वर्णकार को जड़ने के लिए देना चाहिए। स्वर्णकार को भी रत्न सही समय पर अँगूठी में जड़ना होता है। अँगूठी या पेनडेल तैयार हो जाने पर ग्रह संबंधी मंत्र जाप करें या करवाएँ और फिर अनुकूल मुहूर्त में उसे धारण करें। इस प्रकार से धारण किया रत्न अवश्य ही फलदायी होता है। रत्न की शुद्धता, गुण-लक्षण व वजन भी महत्त्वपूर्ण है। रत्नविज्ञान अपने आपमें पूर्ण है, पर इसमें निहित नियमों का पालन भी जरूरी है, जो इतना आसान भी नहीं।

पिछले बीस-पच्चीस वर्षों में भारत में रत्न-जड़ित अँगूठियों का चलन बहुत बढ़ गया है। आजकल हर नेता, सरकारी अधिकारी, बड़ा व्यापारी या महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति रत्न-जड़ित अँगूठी पहने दिखता है। यही नहीं, गली के हर

मोड़ पर आपको ज्योतिषी भी मिल जाएँगे। बस ऐसे ही ज्योतिषाचार्य के कारण रत्न-विज्ञान को ढकोसला व अंधविश्वास कहा जाता है, वरना रत्न-विज्ञान हर कसौटी पर खरा है। हाँ, इसके नियमों का पालन जरूरी है। परंतु आज का मानव हर चीज का तुरंत फल चाहता है, क्योंकि उसे 'फास्ट-फूड' और 'इनस्टेंट' चीजों की आदत हो गई है। ऐसे में रत्नों की अँगूठियाँ मात्र आभूषण बनकर रह गई हैं।



रुद्राक्ष धारण करना वैज्ञानिक या मात्र आस्था

रुद्राक्ष प्रकृति की एक ऐसी विलक्षण वस्तु है जिसका वर्णन व माहात्म्य हमारे अनेक प्राचीन ग्रंथों में वर्णित है। रुद्राक्ष के वृक्षों पर लगनेवाले फल के बीज को रुद्राक्ष कहते हैं। यह एक दिव्य शक्ति बीज है, जो शिवतत्त्व से जुड़ा है। इसमें आध्यात्मिक विश्वरूपता के साथ-साथ विद्युत चुंबकीय गुण भी हैं। रुद्राक्ष धारक के व्यक्तित्व में बदलाव, आकर्षण-शक्ति में वृद्धि, आत्मविश्वास तथा भौतिक सुख-साधनों में प्राप्ति के योग धनात्मक रूप से आने लगते हैं।

जाबालोपनिषद्, जिसे जाबाल ऋषि ने रचा था, में रुद्राक्ष के गुण-धर्म के बारे में विस्तार से बताया गया है। इस विचित्र बीज पर गहरा शोध करने के बाद (जगबाल ऋषि) काशी नरेश के राजवैद्य बन गए। अपनी चिकित्सा में वे रुद्राक्ष का बहुत प्रयोग करते थे। उन दिनों अन्य वैद्य भी इसका प्रयोग रोग-निवारण में करने लगे। जाबाल एक संन्यासी थे, इस कारण रुद्राक्ष को संन्यासियों से जोड़ दिया गया। आज भी आप अधिकतर संन्यासियों को रुद्राक्ष की माला धारण करते देखते हैं।

रुद्राक्ष धारण करनेवाले के जीवन में सुखद बदलाव किसी जादू-मंत्र के कारण नहीं अपितु इसके प्राकृतिक गुण-धर्म, जिनका वैज्ञानिक आधार है, के कारण आता है। शोध करने के बाद आधुनिक वैज्ञानिकों का ऐसा मंतव्य है कि रुद्राक्षमाला का शरीर की त्वचा से घर्षण होने पर मनुष्य के शरीर में एक प्रकार का ह्यूमन मैगनेटिज्म (मानव चुंबक) एवं ह्यूमन इलेक्ट्रीसिटी (मानव विद्युत्) का निर्माण होता है। शोध के बाद यह भी सिद्ध हो गया है कि मनुष्य के शरीर में उत्पन्न होनेवाली प्राकृतिक विद्युत् और रुद्राक्ष में विद्यमान विद्युत्, दोनों में एक जैसी दो मिलिवोल्ट्ज (2 Milivolts) की शक्ति होती है। एक जैसी शक्ति होने के कारण यह मानव शरीर के अनुरूप कार्य करती है और उसमें मानसिक व शारीरिक परिवर्तन लाती है।

रुद्राक्ष में जो इलेक्ट्रोमैगनेटिक (Electromagnetic) और पैरा-मैगनेटिक शक्ति होती है, वह इसके धारक के मस्तिष्क में ऐसी शक्ति भेजती है जो मस्तिष्क के सकारात्मक केंद्रों को सक्रिय करती है, जिसके कारण उसके धारक व्यक्ति की सोच में परिवर्तन आता है और उसके अनेक मनोरोग (मानसिक तनाव, उदासी, अल्प स्मरण-शक्ति आदि) दूर हो जाते हैं। यही नहीं, रुद्राक्ष से निकलनेवाली सकारात्मक तरंगें इसके धारक की नकारात्मक सोच खत्म करती हैं।

मानसिक रोगों के अतिरिक्त रुद्राक्ष शारीरिक रोग निवारक औषधि भी है। यह ब्लडप्रेशर (रक्तचाप) को नियंत्रित करता है और दमा, अनिद्रा, तंत्रिका (Nervous), हृदय रोग, ज्वर, जुकाम आदि व्याधियों में भी बहुत उपयोगी है। कुछ हद तक यह मधुमेह (डायबिटीज) को भी कम करता है। इसे धारण करने के अतिरिक्त इसका प्रयोग कई और प्रकार से भी होता है, जैसे दूध में उबालकर, घिसकर शहद के साथ लेना, जलाकर इसकी भस्म खाना आदि।

रुद्राक्ष में कई प्रकार के खनिज व धातु पाए जाते हैं जैसे—ताँबा, मैगनीशियम, लोहा, चाँदी, सोना और बेरियम। आम आदमी के लिए रुद्राक्ष में पाए जानेवाले इन खनिज-धातुओं का कोई मतलब नहीं है। परंतु डॉक्टरों के लिए

इसमें पाए जानेवाला सोना और बेरियम बा हृदय रोग को ठीक करने की क्षमता रखते हैं।

सन् १८६० में एक अंग्रेज ऑफिसर जॉन ग्रेटने रुद्राक्ष के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ प्राप्त की थीं। अमेरिका के डॉक्टर एवं ऐबराहिम जार्जु ने रुद्राक्ष के औषधीय गुणों का गहरा अध्ययन किया। शोध के बाद उसका मानना था कि रुद्राक्ष में निश्चित रूप से मानसिक रोगों को ठीक करने की क्षमता है। विशेष रूप से तनाव को दूर करने व मानसिक प्रक्रिया को सुव्यवस्थित करने का गुण रुद्राक्ष में है। कुछ वैज्ञानिकों का तो मानना है कि रुद्राक्ष माला एक प्रकार का 'ऐंटिना' है, जिसमें सब प्रकार की नकारात्मकता को नष्ट करने की शक्ति है। इसी कारण रुद्राक्ष माला को धारण करनेवाले व्यक्ति नकारात्मक सोच से दूर रहते हैं।

आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि रुद्राक्ष भारत में ही नहीं अपितु नेपाल, सिक्किम, भूटान, मलेशिया, इंडोनेशिया, ब्राजील, जावा और म्याँमार में भी पाए जाते हैं। इंडोनेशिया में रुद्राक्ष से इंजेक्शन बनाए जाते हैं, जिन्हें चीन को निर्यात किया जाता है। इसी प्रकार, जर्मनी में रुद्राक्ष पर गहन शोध हुआ है और उन्होंने भी इस बात का प्रतिपादन किया है कि रुद्राक्ष में चुंबकीय शक्ति होती है, जो मनुष्य पर अपना सकारात्मक प्रभाव छोड़ती है।

खेद है कि भारत में आधुनिक युग में रुद्राक्ष पर कोई सार्थक शोध नहीं हुआ है। परंतु व्यक्तिगत रूप से कुछ लोगों ने इस पर अध्ययन अवश्य किया है। यहाँ एक आश्चर्यजनक बात यह है कि हजारों वर्ष पहले हमारे ऋषि-मुनियों ने रुद्राक्ष पर जो शोध किया था, वह आज के वैज्ञानिकों द्वारा किए गए शोध से कहीं अधिक आगे है, क्योंकि आधुनिक वैज्ञानिकों को तो अभी रुद्राक्ष के कई और रहस्यों को जानना बाकी है। अभी तो उन्हें यह जानना शेष है कि रुद्राक्ष का अर्थ है—वह शक्ति जो मनुष्य के मन से सब प्रकार के भय को भगा देती है, यहाँ तक कि उसे मृत्यु का भी भय नहीं रहता। ग्रहदोष भी उसका अनिष्ट नहीं कर पाते। यह एक पापनाशक वनस्पति है, जिसे भगवान् शिव का आशीर्वाद प्राप्त है। रुद्राक्ष की माला पर किए जानेवाले मंत्रों का जप कई गुना अधिक होता है। ये ऐसे तथ्य हैं, जिनकी खोज और शोध आज के वैज्ञानिकों को अभी करना बाकी है।

रुद्राक्ष के फल गुच्छों में लगते हैं और मई-जून में निकलते हैं तथा सितंबर से नवंबर तक पक जाते हैं। रुद्राक्ष निकालने के लिए इसके फल को कई दिन पानी में भिगोकर रखा जाता है। फिर बाद में उससे गुच्छा हटाकर रुद्राक्ष प्राप्त किया जाता है। रुद्राक्षमणि चार रंग की होती है—श्वेत, ताम्र, पीत और श्याम। रुद्राक्ष में जो छिद्र होता है, वह प्राकृतिक ही होता है, बस उसे सूई द्वारा खोलकर साफ किया जाता है। रुद्राक्ष के संबंध में एक अद्भुत बात यह है कि इसके एक ही पेड़ पर एक से चौदह मुखी तक के रुद्राक्ष पाए जाते हैं, जबकि आँवले के पेड़ पर एक ही तरह के यानी सात फाँकवाले फल लगते हैं। यह भी प्रकृति का एक आश्चर्य है। शास्त्रों में एक मुखी से चौदह मुखी रुद्राक्षों का ही वर्णन है, किंतु प्रकृति में इक्कीस मुखी तक के रुद्राक्ष पाए गए हैं। कई विशेषज्ञों का मंतव्य है कि जिस प्रकार २७ नक्षत्र होते हैं, उसी तरह २७ मुखी तक रुद्राक्ष हो सकते हैं। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि अलग-अलग मुखी रुद्राक्ष का अलग-अलग आध्यात्मिक व भौतिक प्रभाव होता है। यह इस कारण होता है, क्योंकि अलग-अलग मुखी रुद्राक्ष की शक्ति और चुंबकीय क्षमता भिन्न-भिन्न होती है।

तंत्रशास्त्र के अनुसार देह के विविध अंगों पर रुद्राक्ष मणि की संख्याएँ भी भिन्न-भिन्न हैं, जैसे ग्रीवा कंठ में ३२ या २७ रुद्राक्ष की माला धारण करनी चाहिए, मस्तक पर ४०, प्रत्येक कान में ६-६, प्रत्येक हाथ के मणिबंध में १२-१२ और प्रत्येक हाथ पर बाजूबंद में १६-१६ की।

मंत्रजप की माला में १०८ मणि तथा एक सुमेरुमणि होनी चाहिए। रुद्राक्ष मणियों के मुख एक-दूसरे के आमने-सामने होने चाहिए, वरना उसका प्रभाव कम हो जाएगा। सुमेरुमणि का मुख ऊर्ध्व (ऊपर की ओर) रखना चाहिए। माला का धागा (डोरा) रेशम का मजबूत होना चाहिए अथवा सोने या चाँदी के तार में माला गूँथनी चाहिए। इस

प्रावधान का वैज्ञानिक आधार यह है कि ये सभी माध्यम गुड-कंडक्टर ऑफ-इलेक्ट्रीसिटी हैं, जो रुद्राक्ष की विद्युत् शक्ति को बनाए रखने में सहायक होते हैं।



जपमाला के प्रकार और १०८ दानोंवाली माला का अंक-विज्ञान

मंत्र-साधना के लिए या नाम जप के लिए माला का प्रयोग लगभग सभी धर्मों में है। अंतर केवल इतना है कि माला के दाने अलग-अलग गणित से पिरोए जाते हैं। हिंदू धर्म में १०८ दानेवाली माला का प्रयोग प्राय: होता है। मुसलमान माला को 'तस्बी' कहते हैं और उसमें १०० दाने होते हैं, हर ३३ दानों के बाद एक 'जामीन' नामक दाना होता है। तस्बी में सबसे ऊपर के दाने को 'ईमाम' कहते हैं। ईसाई धर्म में माला 'रोज़री' कहलाती है और इसमें ६० दाने होते हैं। रोज़री में सबसे ऊपर 'क्रुसीफिस्स' होता है। सिखों की माला में २७ दाने होते हैं। सिख १०८ दानों की माला का भी प्रयोग करते हैं। वैसे मालाएँ दो प्रकार की होती हैं—एक जपमाला और दूसरी धारण करने की माला। जपमाला १०८ दानों की होती है, जबकि धारण करनेवाली माला ३२, २७, ५ या ३ दानों की होती हैं। जिस माला से जप करते हैं, उसे धारण या पहनना नहीं चाहिए।

हिंदुओं में १०८ दानों के पीछे अंक विज्ञान है। सबसे ऊपर के दाने को 'सुमेरु' कहते हैं। सनातन ऋषि-मुनियों ने १०८ दानों का गणित प्रकृति के कई सिद्धांतों को ध्यान में रखकर निश्चित किया था। इस अंक का विज्ञान पूरे ब्रह्मांड को अपने में समाए हुए है। यह अंक संख्या नौ ग्रहों और बारह राशियों का गुणनफल है (९ × १२=१०८), जो पूरे ब्रह्मांड को अपने में समाहित किए हुए है। नक्षत्र संख्या में सत्ताईस हैं और हर नक्षत्र के चार-चार चरण हैं, जिनका गुणनफल भी १०८ है (२७ × ४=१०८)।

वैज्ञानिक दृष्टि से तीन आयामों की इस दुनिया से परे जो चौथा आयाम है, उसी को अपने में समाए जो अंक बनता है, उसी से सत्ताईस नक्षत्रों की गणना को गुणा करने से भी १०८ का अंक बनता है। इस प्रकार मंत्र ध्वनि उस चौथे आयाम तक पहुँचती है, जो इन आयामों की दुनिया से परे है। एक और कारण से भी १०८ का अंक महत्त्वपूर्ण है। एक दिवस में चौबीस घंटे होते हैं, पल, घड़ी और हर घड़ी में साठ पल व हर घंटे में साठ, हर पल में साठ प्रतिपल, इस प्रकार एक दिन में (६० × ६० × ६०=२१६०००) विपल होते हैं, जब हम इसे दो से भाग देते हैं तो १०८००० संख्या आती है, जिसके मूल में १०८ की संख्या है।

हिंदू धर्म में मालाएँ भी कई प्रकार की हैं, जिनका उपयोग अलग-अलग कार्यसिद्धि और देवताओं के लिए होता है। आमतौर पर तुलसी, चंदन व रुद्राक्ष की माल होती है। पर विशेष मंत्र साधना के लिए मुक्ता माला (मोती), प्रवाल माला (मूँगे), हलदी की माला, कमलगट्‌टे की मालाएँ भी होती हैं। इन सबके पीछे जो विज्ञान है, वह मंत्र विशेष या देवी-देवता की 'तंरगों' को ध्यान में रखकर किया गया है। उदाहरण के लिए, मोती की माला का प्रयोग चंद्रमा ग्रह और लक्ष्मी देवी से संबंधित है। इसी प्रकार हलदी की माला माँ दुर्गा से संबंध रखती है। परंतु रुद्राक्ष की माला सर्वश्रष्ठ है और किसी मंत्र या देवता की पूजा-आराधना में प्रयोग की जा सकती है। अभिप्राय यह है कि माला का चयन वैज्ञानिक कारण से है, किसी काल्पनिक या अंधविश्वास के कारण नहीं।

जपमाला के विषय में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जपमाला हर व्यक्ति की अपनी अलग होनी चाहिए। किसी दूसरे व्यक्ति की जपमाला का प्रयोग नहीं करना चाहिए और न ही अपनी माला जपने के लिए किसी को देनी चाहिए। आपकी माला आपके आध्यात्मिक 'लॉकर' की तरह होती है, जिस पर आपने मंत्रों की जमापूँजी सूक्ष्म रूप से सँजोई होती है। इसलिए जप करते समय आप को अपनी माला गोमुखी में रखकर जाप करना चाहिए, ताकि

कोई आप को जप करते समय देखे नहीं।

माला द्वारा मंत्र जाप किए जाने के पीछे वैज्ञानिक पक्ष यह है कि अंगुष्ठ (अँगूठा) और मध्यमा अंगुली द्वारा जब माला का दाना फेरा जाता है तब इन तीनों के संघर्ष से एक विलक्षण मानव-विद्युत् उत्पन्न होती है, जो सीधी हमारे हृदय-चक्र को प्रभावित करती है। इससे मन को एकाग्र करने में सहायता मिलती है।

सनातन चिंतन के अनुसार हमारे शरीर में अंगुष्ठ का संबंध आत्मा से और मध्यमा अंगुली का हृदय प्रदेश से सीधा संबंध है, इसीलिए मंत्रजाप माला द्वारा ही करना चाहिए।



हिंदू अपने शव क्यों जलाते हैं

मृत्यु जीवन का एक कटु सत्य है। जो जनमा है, उसकी मृत्यु भी होगी। हर धर्म में शवों की अंत्येष्टि करने की अपनी-अपनी प्रथाएँ हैं। हिंदू धर्म में शवों का अग्निदाह किया जाता है। प्राचीन मनीषियों ने बहुत सोच-समझकर इस प्रथा को जन्म दिया। उनका यह मानना था कि मनुष्य का शरीर, जो पाँच तत्त्वों से बना है, अग्निदाह करने से शीघ्रतम पाँचों तत्त्वों में विलीन हो जाता है। मनुष्य के पंचतत्त्वों का प्रकृति के तत्त्वों में विलय होना प्रकृति के संतुलन को बनाए रखने में सहायक होता है।

दूसरा एक कारण यह भी है कि अग्निदाह से मृतक शरीर के घातक जीवाणु जलकर नष्ट हो जाते हैं और इस प्रकार वातावरण शुद्ध रहता है। एक और कारण यह भी है कि अग्निदाह के लिए शव को अलग से जमीन की जरूरत भी नहीं होती। विदेशों में बसे हिंदुओं को देखकर कुछ पाश्चात्य लोगों ने भी अग्निदाह को स्वीकार किया है। एक अनुमान के अनुसार अमेरिका में २०१० तक अग्निदाह ४० प्रतिशत तक हो जाएगा। भारत में ईसाई धर्म के अनुयायियों में भी अब यह प्रथा देखी जा रही है।

हिंदुओं में चौदह मास के बालक की मृत्यु पर उसे जलप्रवाह करते हैं। भारत में भी सिंधु सभ्यता के दौरान शवों को भूमिगत ही करते थे। पर बाद में अग्निदाह किया जाने लगा। महानगरों में विद्युतदाह भी होता है। विद्युतदाह अग्निदाह का आधुनिक रूप है।

विद्युतदाह में हिंदुओं में प्रचलित 'कपालक्रिया' नहीं हो सकती। कपालक्रिया के लिए जो व्यक्ति शव को अग्नि देता है, वह शव के आंशिक जल जाने पर बाँस द्वारा शव की खोपड़ी को तोड़ता है। इसके पीछे यह विज्ञान है कि मनुष्य के मस्तिष्क में रहनेवाला जीवाणु पूर्णतया समाप्त हो जाए और उसमें से उपप्राण निकलकर पंचतत्त्व में शीघ्र विलीन हो जाए।

आधुनिक विज्ञान भी यह मानता है कि मरने के बाद भी मनुष्य का मस्तिष्क कुछ समय तक जीवित रहता है। यह सत्य हिंदू मनीषियों ने हजारों वर्ष पूर्व जान लिया था, इसीलिए 'कपालक्रिया' की प्रथा को उन्होंने जन्म दिया। खेद है, धर्म की यह बारीकी श्मशान घाट पर क्रिया-कर्म करनेवाले आचार्य भी नहीं जानते, जिसके परिणामस्वरूप हम इन सब बातों को व्यर्थ की बात मानते हैं, क्योंकि हम इन सब बातों के पीछे के विज्ञान से अनभिज्ञ हैं।

जीवन की अंतिम यात्रा से जुड़ी कुछ और सनातन बातें भी ध्यान देने योग्य हैं। पहले समय में जब यह लगने लगता था कि अब मरनेवाला अधिक समय और जीवित नहीं रहेगा तो यह प्रथा थी कि उस व्यक्ति को चारपाई से उतारकर जमीन पर लिटा देते थे, जिसके पीछे यह विज्ञान था कि जमीन पर उतार लेने से बीमार के प्राण आसानी से निकल जाते हैं, क्योंकि जमीन प्राणशक्ति को अपने में शीघ्र प्रवाहित कर लेती है। चारपाई के पाए क्योंकि उन दिनों लकड़ी के होते थे, इसलिए प्राण निकलने में कठिनाई होती थी, क्योंकि लकड़ी से विद्युत् (प्राण भी एक प्रकार की विद्युत् होते हैं) प्रवाहित नहीं होती; जबकि जमीन से एकदम हो जाती है। इसी कारण बीमार को जमीन पर उतार लेते थे।

शवयात्रा के दौरान हिंदू शव को शांत या मौन रहकर श्मशान नहीं ले जाते हैं, अपितु उस अवसर पर समाज के लोगों को संदेश देते हैं कि सिवाय 'रामनाम' के इस मिथ्या संसार में कुछ और 'सत्य' नहीं है। इसीलिए शवयात्रा में 'श्रीराम नाम सत्य है' कहा जाता है। सनातन धर्म इस प्रकार मृत्यु में भी जीवन को संदेश देता है।



विवाह के समय जन्मकुंडली मिलाने के पीछे विज्ञान

विवाह किसी भी स्त्री-पुरुष के जीवन का एक महत्त्वपूर्ण कदम है, अत: इसे उठाते समय हमें खूब सोच-विचारकर उठाना चाहिए। विवाह से हमारे जीवन की कई महत्त्वपूर्ण बातें जुड़ी हैं; जैसे स्त्री-पुरुष का प्यार, यौन-संबंध, बच्चे, जीवन के अन्य सुख, समाज में स्थान और जीवन में प्रगति व उन्नति। विवाह के बाद ही मनुष्य पूर्ण होता है, क्योंकि पुरुष को स्त्री और स्त्री को पुरुष मिलता है। इस प्रकार से वे दोनों एक-दूसरे के पूरक बनते हैं।

जन्मकुंडली मिलाने से यह पता चलता है कि दोनों के मिलने से क्या उन दोनों के संबंध विवाह के बाद ठीक रहेंगे या नहीं। हमारे शास्त्रों में मनुष्य के स्वभाव को तीन प्रकार का बताया गया है; जैसे देवता-स्वभाव, राक्षस-स्वभाव और मनुष्य-स्वभाव। जन्मकुंडली में इसे 'गण' कहते हैं। देवता-स्वभाववाले व्यक्ति का विवाह यदि राक्षस-स्वभाववाली स्त्री के साथ होगा तो संभावना यही है कि वे दोनों सारी जिंदगी लड़ाई-झगड़े, मन-मुटाव और कलह में ही बिताएँगे। स्त्री-पुरुष एक जैसे स्वभाव के होंगे तो जीवन ठीक-ठाक चलेगा। यदि दोनों में से एक देवता-स्वभाव तथा दूसरा मनुष्य स्वभाववाला है तो ठीक-ठाक ही होगा, पर यदि मनुष्य स्वभाववाली स्त्री का विवाह किसी राक्षस-स्वभाववाले व्यक्ति से हुआ तो वह पुरुष सारी उम्र उस स्त्री पर रोब ही जमाता रहेगा और उसे व्यक्तिगत रूप से प्रगति नहीं करने देगा। आजकल अधिक विवाह-विच्छेद होने का यह एक बड़ा कारण है।

इसी तरह जन्मकुंडली मिलाने से स्त्री-पुरुष के यौन संबंध का भी पता चलता है; वे दोनों एक-दूसरे को पूर्ण यौन-सुख दे पाएँगे या नहीं? उन दोनों के मिलन से बच्चे समय पर होंगे या नहीं? बच्चों में कोई शारीरिक कमजोरी तो नहीं होगी? ये सब बातें एक अच्छा व सच्चा ज्योतिषाचार्य ही बता सकता है, पैसे लेकर जन्मकुंडली मिलानेवाले ज्योतिषी नहीं।

प्राय: देखा गया है कि प्रेम-विवाह में विवाह से पूर्व स्त्री-पुरुष के संबंध ठीक-ठाक ही होते हैं, पर विवाह के बाद कई बार संबंध कटु होते देखे गए हैं, क्योंकि प्रकृति के नियमों के अनुसार वे दोनों अच्छे मित्र तो रह सकते हैं, पर पति-पत्नी के रूप में उनका संबंध ग्रहों के अनुसार अनुकूल नहीं होता, इसलिए विवाह के बाद समस्याएँ पैदा हो जाती हैं।

एक और महत्त्वपूर्ण जानकारी, जो जन्मकुंडली के मिलाने से मालूम पड़ती है, वह है विवाह-सूत्र की आयु। फलित ग्रंथों द्वारा पत्नी-नाशक या पति-नाशक योग का पता लगाया जा सकता है। इसलिए जन्मपत्री मिलाते समय वैधव्य योग देखना बहुत आवश्यक है। ऐसे विवाह का क्या लाभ जो कुछ ही समय में जीवनसाथी का जीवन ही छीन ले।

एक सफल वैवाहिक जीवन के लिए पति-पत्नी के मानसिक स्तर में अंतर केवल ५ प्रतिशत ही होना चाहिए, इससे अधिक नहीं। ये सभी बातें जन्मपत्री मिलाते समय देखी जाती हैं।

इस तरह कई कारणों से विवाह के समय जन्मपत्री मिलाना एक समझदारी की बात है। पर शर्त यह है कि दोनों की जन्मपत्रियाँ ठीक-ठाक बनी हों और उनके बनानेवाले पंडित भी ज्ञानी रहे हों, वरना उस पर लिखी बातों का

कोई अर्थ नहीं रह जाता। पर आजकल इन सब बातों पर लोग ध्यान नहीं देते। परिणाम हमारे सामने टूटते घरों की बढ़ती संख्या के रूप में है।



हिंदू विवाह-विज्ञान :

दो आत्माओं का मिलन

पुनर्जन्म सनातन चिंतन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इस जन्म में हम जो एक दूसरे से संबंध स्थापित करते हैं, वे हमें आनेवाले अगले किसी जन्म में जोड़ते हैं। संबंधों का यह संयोग और विग्रह भारतीय दर्शन में 'ऋणबंध' कहलाता है।

इतिहास के पूर्वकाल में जब समाज व्यवस्थित नहीं था, तो स्त्री-पुरुष के बीच कोई निश्चित संबंध भी नहीं था। वह समाज मातृवत् था, क्योंकि पिता सुनिश्चित नहीं होता था। उस समय एक सामाजिक जागरूक व्यक्ति श्वेतकेतु ने इस अव्यवस्थित स्थिति को व्यवस्थित रूप दिया। बाद में समाज चिंतकों ने उस व्यवस्था को और निखारकर धर्म सूत्रों में बाँध दिया और इन प्रकार मातृवत् समाज पितृवत् बन गया।

वहीं से आरंभ हुई आज की कुटुंब व्यवस्था। कुटुंब और गृहस्थी ऐसे दर्शन हैं जो दुनिया में कुछेक समाजों में ही देखे जाते हैं। विवाह हिंदू समाज का एक महत्त्वपूर्ण संस्कार है। यह मात्र संस्कार ही नहीं, एक बहुत बड़ा उत्तरदायित्व भी है, जो उसे राष्ट्र, समाज और परिवार के प्रति निभाना होता है। राष्ट्र, समाज और परिवार के लिए उत्तरदायित्ववाला दर्शन विश्व में अन्यत्र नहीं देखा गया है।

स्त्री-पुरुष में जो स्वाभाविक अपूर्णता है, विवाह उसे पूर्ण करता है। विवाह है मिलन दो आत्माओं का, दो परिवारों का। भारतीय मनीषियों ने विवाह संस्कार को एक ऐसी साफ-सुथरी गृहस्थी देनेवाला माना है जैसे किसी योगी की समाधि। एक-दूसरे के लिए कर्तव्य, प्रेम, त्याग, विश्वास, समर्पण और निष्ठा इस संबंध की नींव में होते हैं, और जब इस संबंध में ये भावनाएँ नहीं होंगी तो वही होता है जो आजकल समाज में हमें देखने को मिल रहा है। अब राष्ट्र, समाज और परिवार के प्रति युवकों का वह उत्तरदायित्व नहीं देखा जाता। आज महत्त्वपूर्ण है 'अहंकार' और 'मैं'। फलस्वरूप परिवार टूट रहे हैं।

हिंदू विवाह के विधान वैदिक संस्कारों से निकले और बने हैं। एक-दूसरे को विवाह सूत्र में बाँधने से पूर्व स्त्री-पुरुष दोनों की जन्मकुंडली मिलाना जरूरी है। इसी प्रकार यदि दोनों की 'योनि' एक प्रकार की होंगी तो संतान उत्पत्ति में बहुत कठिनाई आएगी। एक गोत्र में विवाह होने पर संतान शारीरिक रूप से दुर्बल होगी। कुंडली मिलाते समय वैवाहिक जीवन के अनेक पहलुओं पर विचार किया जाता था। कुंडली मिल जाने पर सगाई होती है। इस अवसर पर वर का तिलक और वधू की गोद धराई होती है। शादी से पहले कन्या बहन और बेटी होती है। अब उसे पत्नी व माँ बनना है, इसलिए गोद भराई के द्वारा आशीर्वाद के रूप में पाँच शुभ पदार्थ उसके आँचल में देकर गोद भरते हैं।

शादी से पहले एक और रस्म होती है—'हलदी'। यह वर-वधू दोनों को लगाई जाती है। इसका लेप आकर्षण के अलावा वर-वधू को उत्तेजना भी देता है। कन्यादान के समय भी पिता पुत्री के हाथों में हलदी लगाता है। इसके पीछे कन्यापक्ष का भाव यह है कि अब तक हमारी बेटी कन्या थी, अब से गृहलक्ष्मी होगी।

विवाह के समय गठबंधन एक और रस्म होती है। इस रस्म में वधू की साड़ी के एक कोने को एक पीले दुपट्टे

से बाँध दिया जाता है और दुपट्टे को वर के कंधे पर रख दिया जाता है। इसका आशय है दोनों शरीरों और मन को एक संयुक्त इकाई का रूप देना। बंधन की गाँठ में पाँच वस्तुएँ रखकर बाँधी जाती हैं—पुष्प, हलदी, अक्षत, दूर्वा और पैसा। इन पाँच वस्तुओं के अपने आशय होते हैं।

पुष्प— ये प्रतीक होते हैं, पुष्प की भाँति सदैव प्रसन्न व खिले-खिले रहने की कामना के।

हलदी— हलदी से आशय है एक-दूसरे के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के प्रति सजग रहें, सहयोगी रहें और घर-गृहस्थी चलाएँ।

दूर्वा— दूर्वा कभी निर्जीव नहीं होती, अत: इसमें निहित कामना है कि प्रेम भावना कभी न मुरझाए। एक-दूसरे के मन में प्रेम व आत्मीयता बनी रहे।

अक्षत— यह दांपत्य जीवन में अक्षुण्णता और सामाजिक कर्तव्यों को निभाने का प्रतीक है।

पैसा— पैसा (सिक्का) रखने से आशय है कि धन पर किसी का एकाधिकार नहीं होगा। दोनों मिलकर परिवार के लिए धन का व्यय करेंगे।

हवन के बाद वर-वधू अग्नि के बाईं से दाईं ओर चार या फिर सात फेरे (परिक्रमा) लगाते हैं। शास्त्रों में चार और परंपरा में सात फेरों का विधान है। ये सात वचन एक अच्छे वैवाहिक जीवन के लिए आधारभूत होते हैं। वर एवं कन्या निश्चित मुहूर्त में एक-दूसरे का हाथ पकड़कर 'पाणिग्रहण' की रस्म पूरी करते हैं। परंतु आज के बदले हुए युग में यह सबकुछ व्यर्थ लगता है। प्रेम-विवाह का चलन बढ़ता जा रहा है। परंतु इसका परिणाम तलाक के रूप में सामने आ रहा है।

❑

तुलसी के पौधे व पत्तों का वैज्ञानिक महत्त्व

तुलसी एक दैविक वनस्पति है, इसलिए तुलसी का सनातन समाज में बहुत महत्त्व था। आज भी पूजा-पाठ में तुलसी के पत्तों की जरूरत पड़ती है। पंचामृत व चरणामृत, दोनों में तुलसी के पत्ते अनिवार्य हैं। एक समय था जब भारत के हर घर-आँगन में तुलसी का चौरा (तुलसी लगाने का स्थान) होता था, क्योंकि पवित्रता में तुलसी का स्थान गंगा से भी ऊँचा है।

धर्म की दृष्टि से तुलसी में अधिक मात्रा में विष्णु तत्त्व होते हैं, जो पवित्रता के प्रतीक हैं। इसलिए जिन पदार्थों में तुलसी डालते हैं, वे पवित्र हो जाते हैं और क्योंकि इसके पत्तों में ईश्वरीय तरंगों को आकर्षित करने की क्षमता होती है और वे दैवी शक्ति प्रदान करते हैं। तुलसी की माला विष्णु परिवार से जुड़े देवी-देवताओं के मंत्र जाप के लिए प्रयोग में लाई जाती है। तुलसी की माला धारण करने से एक रक्षा कवच बन जाता है। तुलसी के पत्तों-शाखाओं से एक ऐसा रोगनाशक तेल वायुमंडल में उड़ता है कि इसके आसपास रहने, इसे छूने, इसे पानी देने और इसका पौधा रोपने से ही कई रोग नष्ट हो जाते हैं। इसकी गंध दसों दिशाओं को पवित्र करके कवच की तरह प्राणियों को बचाती है। इसके बीजों से उड़ते रहनेवाला तेल तत्त्व त्वचा से छूकर रोम-रोम के विकार हर लेता है।

आयुर्वेद के अनुसार तुलसी एक रामबाण पौधा है, जिसका प्रयोग कई प्रकार के शारीरिक कष्टों को दूर करने में होता है। तुलसी दो प्रकार की होती है—एक साधारण हरे पत्तोंवाली तथा दूसरी श्यामा-तुलसी, जिसके पत्ते छोटे व काले रंग के होते हैं। श्यामा तुलसी पूजा के लिए अधिक उपयुक्त मानी जाती है। इसका औषधि के रूप में एक और लाभ यह है कि तुलसी के पत्तों में कुछ मात्रा में पारा (मरकरि) होता है। मरकरि एक सीमित मात्रा में शरीर के लिए बहुत हितकारी है, पर दाँतों के लिए हानिकारक। इस कारण तुलसी के पत्तों को साबुत ही निगला जाता है, दाँतों से चबाया नहीं जाता। 'तुलसी' नीम और शहद से भी अधिक गुणकारी है।

एक और विशिष्टता तुलसी की यह है कि जहाँ और फूल-पत्तियों की शक्ति मुरझाने पर समाप्त हो जाती है, वहीं तुलसी के पत्तों की शक्ति सूखने पर भी बनी रहती है और ये वातावरण को सात्त्विक बनाए रखते हैं। अगर घर-आँगन में, सड़क-किनारे या कहीं और तुलसी की बगीची लगा दें तो साँप-बिच्छू अपने आप वहाँ से भाग जाते हैं। इसी कारण, तुलसीवाले घर-आँगन को तीर्थ समान माना जाता है।

बिल्वपत्र (बेल के पत्ते) भी तुलसी की ही भाँति सदा शुद्ध रहते हैं। जहाँ तुलसी में विष्णु तत्त्व होता है, वहीं बिल्व पत्र में शिव तत्त्व होता है। इनमें भी सूखने के बाद देवता तत्त्व सदैव विद्यमान रहता है और उसे प्रक्षेपित करता रहता है। बिल्वपत्र के चिकने भाग को नीचे की तरफ रखकर शिव पिंडी पर चढ़ाते हैं।

तुलसी का एक नाम वृंदा भी है अर्थात् विद्युत्-शक्ति। इसलिए तुलसी की लकड़ी से बनी माला, करधनी, गजरा आदि पहनने की प्रथा सदियों से चली आ रही है, क्योंकि इनसे विद्युत् की तरंगें निकलकर रक्त-संचार में कोई रुकावट नहीं आने देतीं। इसी प्रकार गले में पड़ी तुलसी की माला फेफड़ों और हृदय को रोगों से बचाती है।

आप में से कुछ को यह जानकर आश्चर्य होगा कि मलेशिया द्वीप में कब्रों पर तुलसी द्वारा पूजन-प्रथा चली आ

रही है, जिसका वैज्ञानिक आधार यह है कि मृत शरीर वायुमंडल में दुष्प्रभाव और दुर्गंध नहीं फैलाता। शव को तुलसी-विटप के पास रखने का एक मात्र वैज्ञानिक रहस्य यही है कि शव देर तक सुरक्षित रहता है और मृत शरीर की गंध तुलसी की दुर्गंध से दबी रहती है।

इजराइल में भी तुलसी के बारे में ऐसी ही धारणाएँ हैं। सूर्य-चंद्र के ग्रहण के दौरान बड़े-बुजुर्ग अन्न-सब्जियों में तुलसीदल (पत्ते) इसलिए रखते थे कि सौर मंडल से उस समय आनेवाली विनाशक विकिरण तरंगें खाद्यान्न को दूषित न करें। इस प्रकार ग्रहण के समय तुलसीदल एक रक्षक आवरण का कार्य करता है।

तुलसी के पत्ते रात होने पर नहीं तोड़ने का विधान है। विज्ञान यह है कि इस पौधे में सूर्यास्त के बाद इसमें विद्यमान विद्युत्-तरंगें प्रकट हो जाती हैं, जो पत्तियाँ तोड़नेवाले के लिए हानिकारक हैं। इससे उसके शरीर में विकार आ सकता है।

तुलसी सेवन के बाद दूध नहीं पीना चाहिए। ऐसा करने से चर्म रोग हो जाने का डर है। इसी प्रकार, तुलसी सेवन के बाद पान भी नहीं चबाना चाहिए, क्योंकि तुलसी और पान दोनों ही पदार्थ तासीर में गरम हैं, जो सेवन करनेवाले के लिए हानिकारक हो सकते हैं।



दान क्यों देना चाहिए

विश्व के सभी धर्मों में दान देने पर जोर दिया गया है। वैदिक धर्म में 'दान' पर बहुत कुछ लिखा व कहा गया है। दान देना एक ऐसा धार्मिक कृत्य है, जिसमें मनुष्य और समाज दोनों का हित निहित है। व्यक्तिगत स्तर पर दान देने से मनुष्य आध्यात्मिक दृष्टि से ऊपर उठता है, जबकि सामाजिक दृष्टि से वह सामाजिक विषमता को दूर करने में समाज की सहायता करता है।

दान देने के पीछे प्रकृति का जो विज्ञान काम करता है, वह बड़ा सरल है। जब कोई व्यक्ति दान देता है तो वह ईश्वर का कार्य करता है, क्योंकि ईश्वर का काम देना है। प्रकृति का सहज स्वभाव भी देना है। सूर्य हमें बिना माँगे प्रतिदिन प्रकाश व ताप देता है। नदी, तालाब, कूप आदि हमें बिना मूल्य के जल देते हैं और वायु हमें नि:शुल्क प्राणदायिनी हवा देती है, वृक्ष बिना कुछ माँगे हमारे वातावरण को स्वच्छ बनाते हैं और फल देते हैं। धर्मग्रंथों में लिखा है कि हमें प्रकृति के प्रति कृतज्ञ होकर उसकी सेवा करनी चाहिए। वृक्षारोपण, पेड़-पौधों को जल देना, नदी, तालाब, कूप आदि को साफ रखना प्रकृति सेवा है और उसे दान देने के समान है। दान देने में प्रकृति का एक और नियम कार्यरत होता है—'जितना दोगे, उससे अधिक पाओगे।' मनुष्य द्वारा किया गया कोई भी कार्य नष्ट नहीं होता, चाहे वह अच्छा हो या बुरा। उस कार्य की तरंगें ऊपर आकाश तत्त्व में विलीन होकर कालचक्र के साथ परिवर्तित होकर फिर पृथ्वी पर लौटती हैं और उस कार्य को करनेवाले को प्रभावित कर दंडित या सम्मानित करती हैं। 'ऋग्वेद' में लगभग चालीस 'गानमंत्र' हैं, जिन्हें सामूहिक रूप से 'दानश्रुति' कहते हैं, जिनमें दान की महिमा का वर्णन है। उपनिषदों में अनेक दानवीर राजाओं के नामों की सूची है। 'छांदोग्योपनिषद्' में धर्म की तीन शाखाएँ बताई गई हैं, जिनमें से दान एक है। इन धर्म ग्रंथों के अनुसार जो व्यक्ति दान देता है, उसे कभी भौतिक पदार्थों की कमी नहीं होती, क्योंकि प्रकृति अपने सूक्ष्म नियम के अनुसार उसके द्वारा दिए गए दान को किसी-न-किसी रूप में वापस कर देती है।

'गीता' में भी इसी सत्य का प्रतिपादन किया गया है और साथ ही दान के तीन स्वरूपों का वर्णन भी किया है। गीता के अनुसार दान तीन प्रकार के होते हैं—सात्त्विक, राजस व तामसिक। सात्त्विक दान वह होता है जो सहज भाव से बिना किसी फल की अपेक्षा किए दिया जाता है। इसका एक आधुनिक रूप 'गुप्तदान' कहलाता है। राजस-दान वह जो किसी फल (नाम, यश, धन, पुत्र-प्राप्ति आदि की कामना) की इच्छा से दिया जाता है। तामस-दान वह दान है जो किसी कुपात्र को तिरष्कृत करते हुए दिया जाता है। गीता के अनुसार सात्त्विक-दान श्रेष्ठ है, पर आधुनिक युग में राजस-दान का ही बोलबाला है।

कूर्मपुराण में दान की चार श्रेणियाँ हैं—नित्य दान, नैमित्य दान, काम्य दान और विमल दान। नित्य दान वह अल्पदान है जो हम प्रतिदिन जाने-अनजाने में करते हैं, जैसे पक्षियों को दाना देना, पेड़-पौधों को जल देना या फिर घर के नौकर को चाय-पानी देना आदि। नैमित्य दान वह दान है जो हम अपने पूर्वजन्म के पापों से मुक्ति पाने के लिए करते है, जैसे—बीमार होने पर किसी मंदिर में 'तुला-दान' करना (बीमार के शरीर के वजन के बराबर सात प्रकार का अन्न तौलकर दान करना) या फिर शनिग्रह दोष-निवारण के लिए शनिवार के दिन स्टील या लोहे की कटोरी में उड़द की काली दाल, एक सिक्का और सरसों या तिल अपनी छाया उसमें देखकर शनिदेव की प्रतिमा पर चढ़ाना आदि। काम्य दान वह दान है जो किसी कामना की पूर्ति के लिए किया जाता है, जैसे—धन-प्राप्ति के लिए, पुत्र-प्राप्ति के लिए, पुत्री के विवाह के लिए या फिर मृत्यु के बाद स्वर्ग-प्राप्ति के लिए; परंतु विमल-दान

सर्वश्रेष्ठ है। यह वह दान है जो निर्मल मन से बिना किसी इच्छा या कामना से परोपकार के लिए किया जाता है।

विमल-दान और गीता में बताया सात्त्विक-दान दोनों श्रेष्ठ हैं। इन दोनों में मनुष्य अपना धन, सुख, सामर्थ्य व संपदा परोपकार की दृष्टि से ईश्वर की तरह दूसरों में बाँटता है। चूँकि मनुष्य का यह कर्म इच्छा-रहित है, इसलिए यह प्रकृति के सूक्ष्म स्तर पर कार्यरत होता है, जिसका फल कालांतर में प्रकृति कई गुना उस व्यक्ति को लौटाती है। इस कारण यह दान देना अधिक हितकर है।

'महाभारत' के अनुशासनपर्व के कई अध्यायों में दान पर चर्चा है। इसी पर्व में सूतपुत्र कर्ण को निम्न जाति का होने के बावजूद 'दानवीर' की संज्ञा से संबोधित किया गया है। इसी पर्व में कहा गया है कि मनुष्य को वृक्षों का पालन अपनी संतान की तरह करना चाहिए। महाभारत के शांतिपर्व में कहा गया है कि मनुष्य को अपनी पहली आय का दसवाँ भाग दान देने से उसकी आय सदा बनी रहती है।

चंद्रग्रहण और सूर्यग्रहण के अवसर पर दान देने का बड़ा महत्त्व है। उस समय दिया दान अधिक फलदायी होता है, क्योंकि आकाशमंडल में पृथ्वी का संबंध सूर्य-चंद्रमा से विशिष्ट होने के कारण मनुष्य द्वारा किए कर्मों का सूक्ष्म प्रभाव अधिक व अल्पकाल में कार्यरत हो जाता है। ऐसा प्रकृति के सूक्ष्म अदृश्य नियमों के कारण होता है।

कर्मकांड की पूजा के उपरांत जो दान पूजा करानेवाले पंडित को दिया जाता है, उसे दक्षिणा कहते हैं। इस दान के पीछे त्याग व कृतज्ञता का भाव होता है, जिसमें पूजा करवानेवाले की श्रद्धा व सामर्थ्य दोनों होती हैं। परंतु आजकल तो पंडितजी माँग कर दक्षिणा लेते हैं। ऐसा करने से दक्षिणा दान न होकर कर्मकांड की 'फीस' बनकर रह जाती है। इस प्रकार के पंडित दक्षिणा लेकर पूजा करानेवाले को आशीर्वाद भी नहीं देते और न ही पूजा करानेवाला दक्षिणा देकर पंडित के चरण ही छूता है। यह युग का प्रभाव है।

इसलाम धर्म में भी 'जकात' (दान) पर जोर दिया गया है। रमजान के महीने में मुसलमानों को उदारता से दान देने की हिदायत दी गई है।



मंदिर में नारियल क्यों चढ़ाते हैं

नारियल को सर्वाधिक शुभ फल माना जाता है, इसी कारण इसका एक नाम 'श्रीफल' है। नारियल में शिव, गणपति, श्रीराम व श्रीकृष्ण—इन पाँच देवताओं की दैविक तरंगों को अपनी ओर आकृष्ट करने और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रक्षेपित करने की क्षमता है। इसे सर्वाधिक सात्त्विकता प्रदान करनेवाला फल कहा गया है।

नारियल के द्वारा हम अनिष्ट शक्तियों के कष्ट दूर कर सकते हैं। इसके द्वारा बुरी नजर भी उतारते हैं, क्योंकि नारियल में अनिष्टकारी तरंगों को खींचने की क्षमता है। अनिष्ट शक्ति से पीड़ित व्यक्ति के कष्ट दूर करने के लिए नारियल से उसकी नजर उतारी जाती है।

इसी प्रकार जब हम मंदिर में या किसी अन्य अवसर पर नारियल फोड़ते हैं, तो उस समय उसमें से मारक मंत्र 'ॐ फट' जैसी ध्वनि निकलती है, जिससे अनिष्ट शक्तियाँ दूर भाग जाती हैं।

एक मत के अनुसार मानव खोपड़ी के सदृश्य 'नारियल' की रचना ब्रह्मर्षि विश्वामित्र ने लोक-कल्याण के लिए अपने संकल्प से की थी। जब हम नारियल किसी देव को अर्पित करते हैं तो हमारा यह कृत्य एक प्रकार से अपना मस्तक ही अर्पण करने के समान होता है। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए ऋषिवर विश्वामित्र ने इस फल की उत्पत्ति की थी। जिस प्रकार हमारे शरीर में तीन आँखें होती हैं (तीसरी आँख जो बाह्य रूप से नहीं दिखती, पर अदृश्य रूप में हमारे मस्तिष्क में होती है) वैसे ही नारियल में भी तीन आँखें होती हैं। और इसमें अंदर भरा जल हमारे सिर में विद्यमान रक्त के समान होता है। नारियल देवालयों में चढ़ाने के पीछे विज्ञान यही है कि जब हम किसी मंदिर में किसी देवी या देवता को नारियल चढ़ाते हैं तो एक प्रकार से हम अपना सिर, अपना अहंकार, अपना अस्तित्व इस नारियल के रूप में अर्पण करते हैं और बदले में सुबुद्धिवाला मस्तक माँगते हैं।

नारियल अर्पण करते समय उसका आँखवाला भाग देवता की तरफ होना चाहिए, जिसका विज्ञान यह है कि आँखवाली ओर से ही नारियल देवशक्ति ग्रहण करता है और हमें प्रदान करता है।

इसी प्रकार नारियल फोड़ते समय 'फट' की जो आवाज आती है, वह मंत्र के समान शक्तिशाली होती है, जिससे अनिष्ट शक्तियाँ दूर रहती हैं और हमारे आस-पास के वातावरण को निर्मल रखती हैं। इसके अतिरिक्त नारियल के पानी को गंगाजल और गौमूत्र के समान शुद्ध एवं पवित्र माना गया है। इस कारण फोड़े गए नारियल के जल को प्रवेश द्वार के दोनों ओर या जिस स्थल पर पूजा हो रही है, उस स्थान पर चढ़ाया जाता है, ताकि उस जगह की शुद्धि हो जाए। इसके उपरांत नारियल की गरी प्रसाद रूप में सबको बाँटी जाती है। गरी ग्रहण करने से सभी को दैविक आशीर्वाद प्राप्त होता है। इन्हीं कारणों से नारियल चढ़ाने और नारियल फोड़ने की प्रथा हमारे सनातन कर्मकांड में सम्मिलित है।



पूजा-पाठ में चंदन का प्रयोग क्यों करते हैं

पूजा-पाठ में देवताओं को तिलक लगाने के लिए विविध प्रकार के द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है, उनमें से अष्टगंध व चंदन सबसे अधिक सात्त्विक हैं। देव के माथे पर तिलक लगाने के पीछे यह विज्ञान है कि देवता की सुषुम्ना नाड़ी सक्रिय होकर मनुष्य यानी पूजक की आध्यात्मिक व भौतिक उन्नति करें।

कर्मकांड के अनुसार, सकाम साधना में दोनों हाथों से चंदन घिसने की प्रक्रिया को महत्त्व दिया है। किसी भी कार्य की संपूर्ण सिद्धि के लिए उस शिव (बाएँ) व शक्ति (दाएँ) को जोड़ना आवश्यक है। जब हम दोनों हाथों से चंदन घिसते हैं तो शिव व शक्ति दोनों के तत्त्व अपने में जाग्रत् कर लेते हैं। दोनों हाथों से चंदन घिसने पर शरीर की सुषुम्ना नाड़ी सक्रिय हो जाती है, जो मनुष्य के लिए हितकर है।

इसके विपरीत, मृत व्यक्ति के लिए दाएँ हाथ से चंदन घिसने का विधान है। दाएँ हाथ से चंदन घिसकर दाहिनी नाड़ी (पिंगला नाड़ी) द्वारा मृत शरीर की लिंगदेह को क्रियाशक्ति प्रदान कर उसकी आगे की अनंत यात्रा के लिए गति देना है। हमारे प्राचीन शरीर-विज्ञान के अनुसार प्राण निकल जाने के बाद भी मृत शरीर में कुछ मात्रा में सुप्त उपप्राण कुछ समय तक शेष रहते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक भी अब यह मानते हैं कि मरने के बाद कुछ समय तक मनुष्य का मस्तिष्क जीवित रहता है। यही कारण है कि हिंदुओं में मृतक को चिता पर अग्निदाह के समय कपाल-क्रिया की जाती है, ताकि उसकी खोपड़ी में स्थित उपप्राण शीघ्र मुक्त होकर पंचतत्त्व में विलीन हो जाएँ। चंदन के इस गुण के कारण चिता पर चंदन की लकड़ी के टुकड़े चढ़ाए जाते हैं। दाएँ हाथ से चंदन घिसनेवाले व्यक्ति की सूर्यनाड़ी (दाईं) सक्रिय होती है और इस प्रकार उसके शरीर से रजोगुणी तरंगें निकलकर मृत व्यक्ति की देह को प्राप्त होती हैं, जो उसके उपप्राण को शीघ्र उसके मृत शरीर से निकलने में सहायक बनती हैं।

चंदन में सात्त्विकता होती है, जो मनुष्य की आध्यात्मिकता के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए दोनों भृकुटि के बीच माथे पर चंदन का तिलक लगाने की प्रथा है। परंतु यदि हम सफेद चंदन में हलदी या कुंकुम मिलाकर घिसें तो उसकी सात्त्विकता कम हो जाती है, क्योंकि हलदी व कुंकुम में रजोगुणी तरंगें होती हैं, जो चंदन के सत्त्वकणों का विघटन कर देती हैं। इसलिए चंदन घिसते समय उसमें हलदी या कुमकुम नहीं मिलाना चाहिए।

जब हम किसी देव प्रतिमा या चित्र पर देव की भ्रूमध्य में चंदन का तिलक लगाते हैं तो उस देवता की सूर्यनाड़ी जाग्रत् हो जाती है। इससे देवता का तत्त्व उस प्रतिमा अथवा चित्र की ओर आकृष्ट होता है और वे जाग्रत् हो जाते हैं तथा आस-पास के वातावरण को आध्यात्मिक बनाते हैं। चंदन के प्रयोग के पीछे यही विज्ञान है।



घरों में गाय के उपले व नीम के पत्ते क्यों जलाते हैं

वास्तुशास्त्र के अनुसार जब किसी स्थान का पाँच मूल तत्त्वों का संतुलन बिगड़ जाता है तो उस घर में बीमारी या कलह बढ़ जाती है। उपाय के रूप में घर के स्वामी को घर में नीम के पत्तों या गाय के गोबर से बने उपलों का धुआँ करने या कपूर जलाने को कहा जाता है। बीमारी या कलह का एक कारण घर में अनिष्ट शक्तियों का वास होना है, जो घर में नकारात्मक वातावरण (नैगेटिव वाइब्रेशन) पैदा करती हैं। इन नकारात्मक शक्तियों का कोई स्थूल शरीर तो होता नहीं, परंतु इसके सूक्ष्म शरीर की सूँघने की शक्ति बहुत तीव्र होती है। इसके अतिरिक्त उन्हें बदबूदार, गंदी, मैली-कुचैली, टूटी-फूटी अँधेरी जगह और घर अच्छे लगते हैं। इस कारण जिन घरों में बदबू, गंदगी, अँधेरा आदि रहता है, वहाँ ऐसी ऊपरी हवाएँ (Astral boby) वास करती हैं और उस घर में बीमारी, कलह आदि फैलाती हैं।

इन नकारात्मक शक्तियों अर्थात् ऊपरी हवाओं को घर से भगाने का एक अच्छा और सरल उपाय है कि घर में ऐसी सुगंध पैदा करें, जिसे वे पसंद न करती हों, जैसे नीम की पत्तियों, गाय के गोबर से बने उपलों का धुआँ या फिर कपूर की सुगंध। जहाँ इन तत्त्वों का धुआँ होगा, ये उसे बरदाश्त नहीं कर पातीं और वहाँ से भाग जाती हैं। परंतु यह उपाय हमें लगातार कुछ दिनों करना चाहिए। एक या दो बार में इस उपाय का कोई स्थायी असर नहीं होता। इसके अतिरिक्त घर की साफ-सफाई भी करनी चाहिए, जैसे घर से मकड़ी के जाले चीजों पर पड़ी धूल आदि की सफाई करना। हवन के धुएँ के पीछे भी यही विज्ञान व कारण है। हवन सामग्री की खुशबू वातावरण को शुद्ध तो करती ही है, साथ में अनिष्ट शक्तियों को घर से बाहर भी निकाल देती है। परंतु यह ध्यान रहे कि हवन सामग्री शुद्ध होनी चाहिए और उसमें डाला जानेवाला घी भी देसी गाय का ही होना चाहिए, क्योंकि देसी गाय और दूसरी गाय के घी के गुण-धर्म भिन्न होते हैं, साथ ही प्रभाव में भी अंतर होता है। जब हम सूक्ष्म बातों पर ध्यान न देकर अपने ही ढंग से धार्मिक कार्य करते हैं तो उनका मनोवांछित फल नहीं मिलता। फिर हम उन कार्यों को आडंबर का नाम दे देते हैं, जबकि दोष होता है हमारे अपने अपूर्ण एवं गलत ढंग से किए हुए विधि-विधान का।

शुद्ध सामग्री, घी व अन्य सुगंधित वस्तुओं के प्रयोग के माध्यम से घर का वातावरण शुद्ध हो जाता है और दैविक शक्तियाँ घर में सात्त्विकता बढ़ाती हैं, जिससे नकारात्मक शक्तियाँ वहाँ से दूर रहती हैं।



शिवपिंडी की प्रदक्षिणा अपूर्ण क्यों की जाती है

आपने देवालयों में भक्तों को देवी-देवताओं की प्रतिमाओं की प्रदक्षिणा करते हुए देखा होगा। प्रदक्षिणा के पीछे जो विज्ञान है वह यह है कि जब कोई व्यक्ति किसी जाग्रत् प्रतिमा के चारों ओर घूमता है, तब देव-शक्ति उसके शरीर में सूक्ष्म रूप से प्रवेश करती है और उसे कष्ट वहन करने की शक्ति देती है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि जाग्रत् प्रतिमा किसी सिद्ध स्थल की हो। आम मंदिरों में स्थापित प्रतिमाओं के विषय में यह तथ्य सत्य है, इसका दावा संभवत: नहीं किया जा सकता।

जहाँ अन्य देवी-देवताओं की प्रतिमा की पूर्ण परिक्रमा उनके चारों ओर घूमकर पूरी की जाती है, वहीं शिवपिंडी की प्रदक्षिणा केवल आधी (अपूर्ण) ही की जाती है, जिसका विधान इस प्रकार है—प्रदक्षिणा करते समय बाईं ओर से जाएँ और जहाँ तक अभिषेक की जल-प्रणालिका (शिवपिंडी का आगे निकला हुआ भाग) होती है, वहाँ तक जाकर उसे न लाँघते हुए पुन: लौटना चाहिए तथा पुन: प्रणालिका तक उलटे आकर प्रदक्षिणा पूर्ण करनी चाहिए। यह नियम केवल मानव स्थापित अथवा मानव निर्मित शिवलिंग पर ही लागू होता है; स्वयंभू लिंग या चल-लिंग (घर में स्थापित लिंग) पर नहीं। शालुंका के स्रोत को लाँघते नहीं, क्योंकि वहाँ शक्ति-स्रोत होता है। पिंडी लाँघते समय पैरों को फैलाना पड़ता है, अत: वीर्य निर्माण पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। इससे शरीर की देवदत्त व धनंजय वायु के प्रवाह में भी बाधा पैदा हो जाती है, जो शरीर के लिए कष्टदायी है। भारतीय मान्यता के अनुसार मनुष्य के शरीर में कई प्रकार की वायु होती हैं, जिनका अपना-अपना कार्य होता है। देवदत्त व धनंजय वायु मनुष्य की यौन इंद्रियों से संबंध रखती है। पिंडी लाँघने पर मनुष्य को शक्तिपात के कारण शारीरिक कष्ट हो सकता है। इसलिए शिवपिंडी की पूर्ण प्रदक्षिणा नहीं की जाती और यही इसका विज्ञान है।



पूजा-पाठ में प्रयोग होनेवाले विशेष पदार्थों का विज्ञान

संसार में यों तो हजारों पदार्थ हैं, पर सनातन ऋषि-मुनियों ने कुछ गिने-चुने पदार्थ ही पूजा-पाठ के लिए उपयुक्त माने हैं। उनके चयन के पीछे वैज्ञानिक कारण व आधार था। जब कभी भी घर में पूजा-पाठ होता है तो पूजा के लिए पंडितजी आपसे हलदी की गाँठ, कुंकुम, चंदन (सफेद या रक्त), केसर, धूप, अगरबत्ती, पान-सुपरी, लौंग, कपूर, चावल, जौ, काले तिल, अष्टगंध, तुलसी, दूब, गंगाजल, नारियल, आम के नौ या ग्यारह पत्ते, गाय का घी आदि सामग्री मँगवाते हैं।

प्रश्न उठता है कि चावल की जगह गेहूँ, हलदी की गाँठ की बजाय जीरा, केसर के स्थान पर कुछ और, पान-सुपारी की जगह कत्था-चूना क्यों नहीं प्रयोग करते?

इन सभी प्रश्नों का एक ही उत्तर है कि पूजा के हर पदार्थ की अपनी एक विशिष्टता होती है, जो वैज्ञानिक है। यहाँ सब पदार्थों पर विचार न करके कुछेक पर ही प्रकाश डालेंगे। सर्वप्रथम पान का विज्ञान समझने का प्रयत्न करते हैं। पान प्रकृति का एक अति संवेदनशील पदार्थ है। यह एक प्रमाणित सत्य है कि यदि कोई अशुद्ध व अस्वच्छ महिला पान की खेती में प्रवेश करे तो उस खेत के पान जल (काले पड़) जाएँगे। इसी प्रकार, तुलसी का पौधा भी संवेदनशील है। पान और तुलसी के पत्तों में ईश्वरीय तरंगों को अपनी ओर आकर्षित करने की क्षमता होती है। यही गुण सुपारी में भी है। तुलसी के पत्ते में सात्त्विकता बहुत होती है, जो दैविक शक्तियों को पसंद है। गंगाजल पूजा के स्थान को पवित्र करता है (Disinfect), इसीलिए गंगाजल छिड़का जाता है। अष्टगंध अपनी गंध से दैविक शक्तियों को पूजा स्थल पर आकर्षित करती है, क्योंकि सुगंध देवताओं को प्रिय है और वे उस ओर खिंचते हैं तथा हमारे द्वारा की जानेवाली पूजा में सूक्ष्म रूप से भाग लेते हैं।

कुंकुम को हलदी से तैयार किया जाता है। हलदी को चूने के पानी में भिगोने से वह लाल बन जाती है, और इस प्रकार हलदी से कुंकुम तैयार होता है। हलदी जमीन के नीचे पैदा होती है, इस कारण जमीन के ऊपर उगनेवाली वस्तुओं की अपेक्षा हलदी में भूमि लहरियाँ अधिक मात्रा में होती है। जब हम देवी-देवताओं को हलदी-कुमकुम चढ़ाते हैं तो उससे प्रक्षेपित भूमि-लहरियाँ देवताओं की लहरियों के साथ सर्वत्र फैलती हैं। इस कारण, हम पृथ्वी की विविध लहरों को बिना किसी रुकावट के ग्रहण कर लेते हैं। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि पूजा-पाठ में प्रयोग आने-वाले सभी पदार्थों का कोई-न-कोई वैज्ञानिक आधार अवश्य है।



आरती उतारने के पीछे का विज्ञान

हम जब किसी देव या देवी की प्रतिमा, किसी सच्चे संत या पहुँचे हुए गुरु की आरती उतारते हैं, तो उनमें विद्यमान पवित्र कण सक्रिय होकर प्रक्षेपित होने लगते हैं, जिनका लाभ आरती उतारनेवाले को मिलता है। यही इसका सूक्ष्म विज्ञान है।

भगवान् के दर्शन के लिए यों तो आप कभी भी मंदिर जा सकते हैं, पर आरती के समय देवताओं या दैविक शक्तियों का वहाँ आगमन अधिक रहता है, जिस कारण मंदिर में उस समय दैविक प्रभाव बहुत अधिक रहता है। अत: उस समय मंदिर की सात्त्विकता बढ़ जाती है, जिसके फलस्वरूप दर्शनार्थियों को लाभ मिलता है। इस कारण आरती के समय मंदिर, देवालय तथा अन्य पवित्र स्थलों पर उपस्थित रहने से अधिक पुण्य प्राप्त होता है।

इसके अतिरिक्त आरती उतारने के पीछे एक और कारण भी है, जिसका संबंध मनुष्यों से है। विवाह के दिन वर-वधू की, नामकरण के दिन नवजात शिशु की, जन्मदिन पर बच्चों की, करवाचौथ के दिन पति की, भैयादूज के दिन भाई की, विजयी वीर की या फिर किसी विशेष कारणों से किसी भी व्यक्ति की आरती उतारी जाती है। यह एक प्रतिपादित सत्य है कि हर व्यक्ति के चारों ओर एक आभामंडल होता है, जो नकारात्मक शक्तियों से उसकी रक्षा करता है। इस आभामंडल पर 'ईर्ष्या' (किसी की खुशी से जलन) का प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। आरती उतारने के पीछे नकारात्मक भावना यानी ईर्ष्या के दुष्प्रभाव को दूर रखना है। भूत, काला जादू इत्यादि अनिष्ट शक्तियों के कष्ट से भी आरती उतारने से मनुष्य का रक्षण होता है।

आरती उतारने की सही पद्धति—आरती की थाली में हलदी-कुंकुम, पान-सुपारी, अष्टगंध, अक्षत, दूध से बनी मिठाई, मिसरी या शक्कर व दीया होना चाहिए। थाली भी कांस्य की होनी चाहिए। जिसकी आरती उतारनी है, उसे प्रथम कुंकुम, अष्ट गंध इत्यादि का तिलक लगाकर अक्षत तिलक पर लगाएँ और फिर कुछ अक्षत उसके सिर के चारों ओर बाईं से दाईं ओर (Clockwise) घुमाना चाहिए। यह क्रिया उस व्यक्ति के शरीर के चारों ओर किसी भी नकारात्मक शक्ति को अपने में समाविष्ट कर लेती है। फिर उसके सिर के चारों ओर घड़ी की दिशा में दीपक को तीन बार गोल-गोल घुमाएँ। यह उस व्यक्ति के आभामंडल को सशक्त बना देता है।

एक और ध्यान देनेवाली बात यह है कि देवी-देवताओं की आरती की थाली में घी का और मनुष्य की आरती की थाली में तेल का दीया होना चाहिए। आरती तीन बार करनी होती है और आरती का प्रारंभ उस व्यक्ति या देवता के दाएँ पाँव से होता है। यही बारीकियाँ है जो आरती के विज्ञान से जुड़ी हैं, जिनका पूर्ण पालन आज का आधुनिक मानव नहीं करता और फिर जब परिणाम ठीक नहीं मिलता तो इन मान्यताओं को ढकोसला व अंधविश्वास बता देता है, जबकि दोष उसकी अपनी अज्ञानता का होता है।



पूजा में पान-सुपारी का वैज्ञानिक महत्त्व

पान— किसी भी सनातन पूजा-पाठ में पान-सुपारी उसके अभिन्न अंग हैं। इन दोनों पदार्थों में अपने-अपने विशिष्ट गुण हैं, जिनके कारण इन्हें हर पूजा-पद्धति में प्रयोग किया जाता है।

पान की बेल को 'नागर बेल' भी कहते हैं। पान की बेल बहुत सात्त्विक होती है। यदि रज:स्राव स्थिति में कोई स्त्री नागर बेल के पत्ते तोड़ लेती है तो वह बेल जल जाती है—अर्थात् उसके पत्तों पर काले दाग उभर आते हैं। अपनी संवेदनशीलता के कारण नागर बेल के आस-पास सात्त्विक वायुमंडल ऐसी स्त्री की देह से प्रक्षेपित रज-तमात्मक तरंगों के प्रभाव के कारण वहाँ के वायुमंडल की सात्त्विकता का विघटन हो जाता है और वह जल जाती है।

इसके विपरीत, पान के पत्ते के द्वारा हम वायुमंडल से दैविक तरंगों को अपनी ओर खींच सकते हैं। इन दैविक तरंगों को ग्रहण करने के लिए पान के पत्ते में उसका डंठल बहुत जरूरी है। बिना डंठल का पान का पत्ता उपयोगी नहीं रहता। इसीलिए पान के पत्ते के डंठल को देवी-देवता की तरफ करके ही अर्पण किया जाता है, क्योंकि डंठल के द्वारा ही पान का पत्ता देव कण को अपने में समाविष्ट करता है। पान का पत्ता भूलोक व ब्रह्मलोक को जोड़ने की कड़ी का कार्य करता है। नागर बेल में भूमि-तरंगें व ब्रह्म-तरंगें आकृष्ट करने की क्षमता है।

पान का पत्ता औषधि के रूप में भी प्रयोग किया जाता है। इसमें पौष्टिक गुण हैं, इसीलिए विवाह के समय वर-वधू को पान खिलाने की प्रथा भी प्रचलित है।

सुपारी— सुपारी दो प्रकार की होती है—एक लाल, जो गोल सी होती है और दूसरी श्वेत, जो अंडाकार होती है। अंडाकार श्वेत सुपारी पूजा के लिए अधिक उपयुक्त है। सुपारी में पृथ्वी व आप (जल) तत्त्वों के कणों का सुंदर संयोग होता है। सुपारी में विद्यमान आप तत्त्व (जल तत्त्व) के कण उसमें विद्यमान देव कणों को प्रवाही बनाते हैं। लाल सुपारी की अपेक्षा श्वेत सुपारी का प्रयोग अधिक फलदायक माना गया है, क्योंकि श्वेत सुपारी में देवताओं के तत्त्व आकृष्ट करने की और सात्त्विक तरंगों को प्रक्षेपित करने की अधिक क्षमता होती है। पान-सुपारी के इन्हीं विशेष गुणों के कारण ये दोनों पूजा-पाठ के अभिन्न अंग हैं।



पूजा-पाठ में शहद का महत्त्व

प्राचीन काल में कर्मकांड या पूजा-पाठ के दौरान जिन पदार्थों का उपयोग होता था, उन्हें ऋषि-मुनियों ने बहुत सोच-विचार व शोध के बाद चुना था। धातुओं में सोना और खाद्य पदार्थों में शहद विशेष स्थान रखते हैं। सोना अगर सैकड़ों साल तक समुद्र के खारे पानी में पड़ा रहे तो भी उसकी चमक-दमक वैसी ही रहती है, जैसे कि पानी में डूबने के समय थी। इस बात की पुष्टि सैकड़ों साल पहले समुद्र में डूबे जहाजों से निकाले गए सोने और सोने के सिक्कों से की गई है।

खाद्य पदार्थों में ऐसा चमत्कारी गुण शहद या मधु में है। आश्चर्य की बात है कि यह न तो बासी होता है, न सड़ता है और न इस पर अन्य पदार्थों की तरह फफूँद लगती है। बरतन में रखा हुआ शहद जब एक पिरामिड में से निकाला गया तब उसके स्वाद व गुणों में कोई परिवर्तन नहीं आया था और वह पूर्णतया शुद्ध व खाने योग्य था। शुद्ध शहद कीटाणु-रहित होता है।

शहद के इन्हीं गुणों के कारण इसे पूजा-पाठ की सामग्री में शामिल किया गया है। किसी देव-देवी की प्रतिमा के अभिषेक के समय उस पर शहद चढ़ाया जाता है। घी, दूध, दही के साथ शहद एक अनिवार्य पदार्थ है, यह इसकी शुद्धता का परिचायक है। इस शुद्धता का कारण है प्रकृति का वह ढंग, जिसके द्वारा शहद का निर्माण होता है। सच तो यह है कि शहद-निर्माण में मनुष्य का कोई हाथ नहीं होता, इसे प्रकृति स्वयं मधुमक्खियों की विलक्षण तकनीक द्वारा निर्माण करती है। इसीलिए यह इतना शुद्ध और पवित्र होता है।

मधुमक्खियाँ नाना प्रकार के फूलों के पराग और मकरंद को चूसकर, छत्ते में अपनी रानी के यौवन एवं मद को बनाए रखने के उद्देश्य से, निष्ठापूर्वक एकत्रित करती हैं। ऋषियों ने इस चिरयौवनदायी रस को भगवान् को अर्पण करने हेतु पंचामृत निर्माण में तथा नवयुवक वर की वीर्य-वृद्धि हेतु मधुपर्क तैयार करने में प्रधानता दी है। आयुर्वेदिक ही नहीं, एलोपैथिक चिकित्सा में भी इसके उपयोग तथा सेवन को शक्तिवर्धक माना गया है। इसमें अनेक विशेषताएँ हैं। वैदिक काल के प्रसिद्ध चिकित्सक अश्विनीकुमार रोगों के निदान के लिए शहद का प्रचुरता से प्रयोग करते थे। उसी काल में कृषि में भी शहद का उपयोग होता था। खेतों में बीज बोने से पहले किसान उन्हें शहद और दूध में भिगोता था, जिसमें उनसे उपजा अन्न मधुर व पौष्टिक होता था।

नीम के फूलों से तैयार किया गया शहद रोगी के लिए सुपाच्य व शक्ति-वर्धक होता है। सफेद फूलों से प्राप्त शहद का रंग सफेदी लिये रहता है। सरसों, केसर, आम आदि फूलों से एकत्रित शहद सुनहरा रंग लिये होता है। शहद जिन फूलों की अधिकता से निर्मित होता है, उनकी गंध तथा स्वाद भी देता है।

रासायनिक दृष्टि से शहद में ५० प्रतिशत ग्लूकोज तथा अल्प मात्रा में फ्रक्टोज, सूक्रोज, माल्टोज आदि मिठास होती हैं। इसमें विटामिन ए, बी तथा ई प्रचुर मात्रा में होते हैं। विटामिन 'डी' भी कुछ अंश में रहता है। इसके अतिरिक्त लोहा, कैल्सियम, चूना, मैगनीज, गंधक, फास्फोरस, सोडियम तथा आयोडीन भी इसमें पाया जाता है। रोग-निवारण की क्षमतायुक्त ताँबा भी होता है। शुद्ध शहद कीटाणु-रहित होता है।

शरीर की सभी नाड़ियों में रक्त के साथ प्रवाहित होते रहने के कारण यह शरीर को सशक्त एवं सक्षम बनाता है। हृदय-रोगियों के लिए यह संजीवनी जैसा है।

दिमागी काम करनेवाले लोगों को सुबह-शाम शहद का सेवन अवश्य करना चाहिए। शहद से स्मरण-शक्ति तेज होती है। परंतु शहद को कभी गरम नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से उसमें विषैले लक्षण पैदा हो जाते हैं। इसी

प्रकार समान मात्रा में शहद व घी का मिश्रण भी उसे विषैला बना देता है।

शुद्ध शहद की पहचान हेतु पानी से भरे गिलास में एक बूँद शहद टपकाएँ। यदि बिना घुले बूँद नीचे तक जाए तो शुद्ध, अगर बीच में ही घुल जाए तो मिलावटी समझें। शुद्ध शहद को कुत्ता नहीं चाटता। यह भी शहद की शुद्धता की पहचान की एक कसौटी है।

भारत की सनातन मान्यताओं के अनुसार ईश्वर व देवों को सर्वश्रेष्ठ पदार्थ ही अर्पण करने चाहिए। इसी कारण हम मंदिर व देवालयों में मूल्यवान्-से-मूल्यवान् वस्तुएँ तथा शुद्ध-से-शुद्ध पदार्थ ही अर्पण करते हैं। शहद की शुद्धता इस कसौटी पर पूर्णरूप से खरी उतरती है। इसी कारण इसका प्रयोग देवालयों में तथा पूजा-पाठ में होता है।



पुष्प-विज्ञान : किस देवी-देवता पर कौन सा पुष्प चढ़ाएँ

देवी-देवता आकाश लोक में रहते हैं और वायुतत्त्व प्रधान होते हैं। उनकी भाषा प्रकाश-भाषा है। वायुतत्त्व प्रधान होने के कारण वे गंधप्रिय होते हैं। गंध-तरंगें पृथ्वी लोक से संबंधित हैं। देवी-देवता जब भूलोक पर विचरण करते हैं तो सुगंधमय स्थलों की ओर अधिक आकर्षित होते हैं। कर्मकांड में इसीलिए सुगंधित पदार्थों का प्रावधान किया गया है। प्रत्येक देवी-देवता की गंध-पसंद अलग-अलग होती है, जिसके कारण वे अपनी पसंद की गंध की ओर शीघ्र ही आकृष्ट हो जाते हैं। देवी-देवताओं की गंध-पसंद को ध्यान में रखकर ही देवी-देवता की पूजा करते समय उनकी पसंद के गंधवाले पुष्प, इत्र आदि पूजा में प्रयोग किए जाते हैं। यही नहीं, किस देव-शक्ति को कितनी पुष्प-पत्तियाँ अर्पित करनी हैं, यह गणित भी हमारे ऋषि-मुनियों ने निर्धारित कर रखा है।

पूजा-पाठ करनेवाले का श्रद्धा भाव भी बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। क्योंकि श्रद्धा से अर्पित पदार्थ उस गंध पदार्थ की गुणवत्ता को और बढ़ा देते हैं, जब हम देवी-देवता पर पुष्प-पत्तियाँ या इत्र आदि अर्पण करते हैं तो उन पुष्प-पत्तियों की तरंगें देवशक्ति को आकृष्ट करती हैं, जिसका लाभ पूजा करनेवाले को पहुँचता है।

किस देवता को किस सुगंध का इत्र अर्पण करना चाहिए

पुष्प का नाम : मोगरा (बेला)

किस देवी-देवता को अर्पित : दुर्गा देवी

अधिकाधिक तरंगें आकर्षित करने हेतु आवश्यक पुष्पों की न्यूनतम संख्या : १ अथवा ९

पुष्प का नाम : रजनीगंधा

किस देवी-देवता को अर्पित : शिव

अधिकाधिक तरंगें आकर्षित करने हेतु आवश्यक पुष्पों की न्यूनतम संख्या : ९ अथवा १०

पुष्प का नाम : कनेर

किस देवी-देवता को अर्पित : महाकाली

अधिकाधिक तरंगें आकर्षित करने हेतु आवश्यक पुष्पों की न्यूनतम संख्या : ९

पुष्प का नाम : तगर

किस देवी-देवता को अर्पित : ब्रह्मा

अधिकाधिक तरंगें आकर्षित करने हेतु आवश्यक पुष्पों की न्यूनतम संख्या : ६

पुष्प का नाम : स्वस्तिका

किस देवी-देवता को अर्पित : सरस्वती (श्वेत)

अधिकाधिक तरंगें आकर्षित करने हेतु आवश्यक पुष्पों की न्यूनतम संख्या : ९ (आदिशक्ति के हर रूप को ९ अंक से पूजा जाता है)

पुष्प का नाम : गुलदाऊदी या गेंदा या कमल

किस देवी-देवता को अर्पित : महालक्ष्मी व लक्ष्मी

अधिकाधिक तरंगें आकर्षित करने हेतु आवश्यक पुष्पों की न्यूनतम संख्या : ७ वही

पुष्प का नाम : कोई भी रक्तपुष्प

किस देवी-देवता को अर्पित : गणेश

अधिकाधिक तरंगें आकर्षित करने हेतु आवश्यक पुष्पों की न्यूनतम संख्या : १, ३, ५, ७

पुष्प का नाम : तुलसी

किस देवी-देवता को अर्पित : विष्णु

अधिकाधिक तरंगें आकर्षित करने हेतु आवश्यक पुष्पों की न्यूनतम संख्या : वही

पुष्प का नाम : जाई (चमेली का एक दूसरा प्रकार)

किस देवी-देवता को अर्पित : श्रीराम

अधिकाधिक तरंगें आकर्षित करने हेतु आवश्यक पुष्पों की न्यूनतम संख्या : ४

पुष्प का नाम : चमेली

किस देवी-देवता को अर्पित : हनुमान्

अधिकाधिक तरंगें आकर्षित करने हेतु आवश्यक पुष्पों की न्यूनतम संख्या : ५

पुष्प का नाम : जूही

किस देवी-देवता को अर्पित : दत्तात्रेय

अधिकाधिक तरंगें आकर्षित करने हेतु आवश्यक पुष्पों की न्यूनतम संख्या : ७

पुष्प का नाम : कृष्णकमल

किस देवी-देवता को अर्पित : श्रीकृष्ण

अधिकाधिक तरंगें आकर्षित करने हेतु आवश्यक पुष्पों की न्यूनतम संख्या : ३

किस देवी-देवता पर किस तरह का पुष्प-पत्तियाँ व इत्र चढ़ाएँ

देवता, देवी, : श्रीराम

किस सुगंध की इत्र : जाई (एक प्रकार की चमेली)

देवता, देवी, : हनुमान्

किस सुगंध की इत्र : चमेली

देवता, देवी, : शिव

किस सुगंध की इत्र : केवड़ा

देवता, देवी, : श्रीदुर्गा देवी

किस सुगंध की इत्र : मोगरा

देवी देवता : श्रीलक्ष्मी

किस सुगंध की इत्र : गुलाब

देवी देवता : गणपति

किस सुगंध की इत्र : हिना

देवी देवता : दत्तात्रेय

किस सुगंध की इत्र : खस

देवी देवता : श्रीकृष्ण

किस सुगंध की इत्र : चंदन

पुष्प व इत्र के अतिरिक्त कुछ विशेष पत्तियों को भी देवपूजा में शामिल किया जाता है। जैसे विष्णु पर तुलसी के पत्ते, शिव पर बिल्वपत्र (बेल के पत्ते) और गणेश पर दूब अर्पित की जाती है। देवी-देवता को पाँच पत्ते चढ़ाने चाहिए, जो ब्रह्मांड के पृथ्वी, जल, तप, वायु व आकाश पंचतत्त्वों के द्योतक हैं। पत्ते, पुष्प, फल आदि अपनी प्राणवायु द्वारा ब्रह्मांड की सत्त्व तरंगों व देव तत्त्वों को ग्रहण करके पूजा करनेवाले जीव का कल्याण करते हैं। इस कारण इन्हें, जब ये ताजा व साफ-सुथरे हों, तभी अर्पित करना चाहिए, क्योंकि उस समय तक इनकी अपनी प्राणवायु देवशक्ति प्राप्त रखने की क्षमता रखती है। बासी फल-फूल कागज के फूलों की तरह होते हैं।

कमल का फूल व आँवला तीन दिन तक शुद्ध रहने की क्षमता रखते हैं, क्योंकि इन दोनों में प्राणवायु व धनंजयवायु तीन दिन तक रज-तम से लड़ने की क्षमता रखती हैं। इसी प्रकार तुलसी व बेलपत्र सूखने के बाद भी शुद्ध बने रहते हैं। ये वैज्ञानिक तथ्य हैं। तुलसी में ५० प्रतिशत विष्णुतत्त्व और बिल्वपत्र में ७० प्रतिशत शिवतत्त्व

विद्यमान होता है।



फूल-पत्तों की बंदनवार लगाने का वैज्ञानिक कारण

पूजा-पाठ व अन्य शुभ अवसरों पर आपने प्राय: वहाँ फूल-पत्तों की बंदनवार लगी देखी होगी। महानगरों में तो विवाह आदि के अवसर पर हजारों रुपयों के फूल सजाए व लगाए जाते हैं। प्रकृति का अंग होने के कारण जब तक फूल-पत्तियाँ ताजा रहती हैं, उनमें वातावरण से मनुष्य के लिए अनुकूल तरंगें खींचने की क्षमता होती है। इसी प्रकार जब हम पूजा करते हैं, तब पूजित देवताओं की सूक्ष्म-लहरियों को भी खींचकर उन्हें वातावरण में प्रक्षेपित करने की क्षमता फूल व पत्तों में होती है। इस कारण प्रवेश द्वार पर फूल-पत्तों का बंदनवार लगाया जाता है। यही इन फूल-पत्तियों का विज्ञान है। बड़ी-बड़ी कोठियों और फार्म हाउस आदि में जो उपवन बनाए जाते हैं, उनका भी यही लाभ होता है।

बंदनवार में लगे फूलों से प्रक्षेपित गंध-लहरियाँ देवताओं का स्वागत करती हैं, जिससे देवता प्रसन्न होते हैं, जिससे उनकी सात्त्विकता का हमें लाभ प्राप्त होता है। आम के पत्तों में अन्य वृक्षों के पत्तों की अपेक्षा देवताओं की लहरियों को खींचने तथा प्रक्षेपित करने की क्षमता अधिक होती है। इस कारण बंदनवार में आम के पत्तों का प्रयोग होता है। गेंदे के फूल अधिक समय के लिए ताजा रहते हैं। इस दृष्टि से उनका उपयोग भी प्राय: होता है। परंतु बंदनवार में लगे पत्ते व फूल स्वच्छ होने चाहिए, इसलिए उन्हें पहले स्वच्छ जल से धोकर व पोंछकर साफ करना चाहिए। बंदनवार लगाते समय उसके पत्तों की डंठल आगे की ओर होनी चाहिए। पत्तों की संख्या भी जगह की रचनानुसार होनी चाहिए।

मुरझाए व अपवित्र फूल-पत्ते प्लास्टिक के फूलों जैसे ही होते हैं, जिनमें दैविक सूक्ष्म-लहरियों को अपनी ओर खींचने की क्षमता नहीं होती। इसलिए बासी, मुरझाए व प्लास्टिक के फूल-पत्तियों का प्रयोग पूजा आदि में वर्जित है। वास्तुशास्त्र व 'फेंगशुई' के अनुसार भी घरों में प्लास्टिक के फूलों का लगाना वर्जित है।



घर-आँगन में रंगोली सजाने के पीछे का विज्ञान

किसी भी शुभ अवसर पर घर-आँगन में रंगोली सजाने की बड़ी प्राचीन प्रथा रही है। रंगोली सजाने के पीछे पृथ्वी-तत्त्व से जुड़ा विज्ञान है। इसलिए इसे विधिपूर्वक और सही पदार्थों से ही बनाना चाहिए, केवल सौंदर्य या सजावट के लिए नहीं, जैसा कि आजकल प्राय: देखने को मिलता है।

रंगोली का मूल संस्कृत शब्द 'रंगवल्ली' है। विशिष्ट चावल का सफेद चूर्ण चुटकी में लेकर जमीन पर उसके द्वारा निर्माण की गई आकृति को रंगोली कहते हैं। रंगोली मूर्तिकला व चित्रकला से भी प्राचीन है।

किसी भी धार्मिक अथवा मंगलकारी कार्य में रंगोली का निर्माण होता है। प्राचीन काल में हर घर के दरवाजे के समाने प्रतिदिन पानी छिड़ककर रंगोली बनाने की प्रथा थी। महाराष्ट्र व दक्षिण भारत में आज भी यह प्रथा प्रचलित है। जमीन पर झाड़ू लगाकर पानी छिड़कने के बाद उस पर रंगोली की चार रेखाएँ खींची जाती हैं। साफ की गई जमीन बिना रंगोली के अशुभ मानी जाती है। रंगोली में जो आकृतियाँ निकाली जाती हैं, वे प्रतीक के तौर पर होती हैं। उदाहरण के लिए, शंख, स्वास्तिक, चंद्र, सूर्य, कमल लक्ष्मी का व प्रजनन-शक्ति का प्रतीक है। वैष्णव उपासना में उसका विशेष महत्त्व है। रंगोली को चावल के चूर्ण से बनाया जाता है। चावल में नकारात्मक तत्त्वों को नष्ट करने की प्राकृतिक क्षमता होती है। यही कारण है कि जब किसी को तिलक लगाते हैं तब भी चावल का ही प्रयोग होता है। चावल नकारात्मकता को दूर करता है और जिसका तिलक करते हैं, उसकी रक्षा होती है।

जमीन पर झाड़ू लगाते समय तथा पानी छिड़कते समय जमीन पर सूक्ष्म-रेखाएँ बन जाती हैं, जिनके द्वारा जमीन में एक प्रकार का कंपन पैदा होता है, क्योंकि ये रेखाएँ अनियमित होती हैं, इसलिए उनसे होनेवाले कंपन भी अनियमित होते हैं। ये अनियमित कंपन शरीर, नेत्र व मन के लिए हानिकारक होते हैं। इनसे बचने के लिए साफ की गई जमीन पर रंगोली के माध्यम से कोण व अन्य शुभ चिह्न व्यवस्थित रूप से उसके ऊपर बनाए जाते हैं, जिससे अशुभ परिणाम दूर हो जाते हैं और शुभ परिणामों की प्राप्ति होती है। यही है रंगोली सजाने के पीछे का विज्ञान। पर आजकल तो घर-आँगन कच्चे होते ही नहीं। ऐसे में रंगोली का क्या प्रयोजन रह जाता है, यह शोध का विषय है।



प्रकृति का सनातन धर्म में स्थान व विज्ञान

प्रकृति अर्थात् वनस्पति का हमारे धर्म में प्राचीन काल से अटूट संबंध रहा है। सच तो यह है कि सनातन धर्म की जड़ें प्रकृति से ही जुड़ी हैं। वैदिक श्लोकों व मंत्रों में प्रकृति को माँ माना गया है। ऋषि-मुनियों ने सदा से ही प्रकृति से गहरा संबंध रखा है। इसीलिए हमारे रीति-रिवाजों में इसके प्रति लगाव छलकता है। मंत्रों में वनस्पति-पूजन भी शामिल था। देवताओं की श्रेणी में वनदेवता भी थे। 'यक्ष' वनों की रक्षा करते हैं, ऐसा विश्वास है।

ऋषि-आश्रम घने जंगलों के बीच सुंदर उपवन जैसे होते थे, जहाँ जीवनदायिनी जड़ी-बूटियाँ उगाई जाती थीं और पशु-पक्षियों को संरक्षण मिलता था, जो आज के सुरक्षित वनों जैसे थे। ये आश्रम उस समय के अनुसंधान केंद्र व शिक्षा संस्थान भी थे। आश्रमवासियों की दिनचर्या प्रकृति के अनुकूल होती थी। वहाँ किए जानेवाले नित्य यज्ञ वातावरण व वायुमंडल दोनों को शुद्ध करने व रखने के लिए होते थे। इन नित्य यज्ञों में गाय के घी की आहुति देने से परमाणु रेडिएशन से वातावरण की रक्षा भी होती थी।

आश्रमों की भाँति देश का ग्रामीण जीवन प्रकृति के अनुरूप व अनुकूल ही होता था। रहने के लिए मिट्टी व घास के बने घर थे, जो सर्दियों में गरम व ग्रीष्म काल में ठंडे रहते थे। गाँव के बीच पीपल, नीम व जामुन के वृक्ष लगे होते थे और घर-घर में तुलसी के पौधे थे। उत्सव व पर्व सब मिलकर मनाते थे। किसी प्रकार का जाति भेदभाव नहीं था। पर कालांतर में समाज में बुराइयाँ आ गईं और भेदभाव दिखने लगा। परंतु सनातन धर्म अपने विशुद्ध रूप में निष्कलंक था।

घर-आँगन साफ-सुथरा व गोबर-मिट्टी से लिपा हुआ रहता था। रूस के एक अनुसंधान के अनुसार गाय के गोबर से लिपा हुआ घर कीटाणु-रहित होता है। कुएँ का और बहती नदी का पानी स्वास्थ्यवर्धक होता था। खेती में प्राकृतिक खाद पड़ती थी। इसीलिए जो भी उपजता था, वह आजकल के पदार्थों की भाँति हानिकारक नहीं था। फल पेड़ों पर ही पकाए जाते थे, आजकल की तरह कृत्रिम रूप से उन्हें नहीं पकाया जाता था। जब कोई व्यक्ति पेड़ काटता था तो पहले उससे क्षमा-याचना करता था, फिर उस पेड़ के ठूँठ (शेष भाग) पर घी लगाता था और बाद में दस पौधे लगाता था। कुछ वृक्षों को जैसे पीपल और वट वृक्ष आदि को तो काटना वर्जित था। वृक्षों की पूजा होती थी। आज जो हम 'वातावरण बचाओ' अभियान की बात करते हैं, वह हमारे अपने मूल सनातन नियमों के उल्लंघन के ही कारण है।

संक्षेप में यदि कहा जाए तो यही है कि सुखी जीवन के लिए जीवन का प्रकृति के साथ निकटता एवं संतुलन बनाए रखना जरूरी है। प्रकृति को यदि हम माँ मानेंगे तो वह हमें बच्चों की तरह संरक्षण देगी और यदि हम उसे दासी मानकर वश में करेंगे तो परिणाम विनाशक ही होंगे। बाढ़ आएगी, सुनामी आएगी और सुखा पड़ेगा आदि।



पीपल-पूजन क्यों

पीपल सदियों से हमारी संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण और अभिन्न अंग रहा है। इसीलिए भारत का सर्वोत्तम पुरस्कार 'भारत रत्न' काँसे से बने पीपल के पत्ते के रूप में प्रदान किया जाता है। विष्णुपुराण के अनुसार, पीपल में ब्रह्मा, विष्णु व महेश तीनों महादेवों के अंश विद्यमान हैं। पीपल की जड़ों में ब्रह्मा, तने में विष्णु तथा इसके ऊपर के भाग में शिव का वास माना जाता है। इसलिए सदियों से भारत में पीपल की ठंडी छाँव हमारे ग्रामीण समाज का हिस्सा रही है। मंदिरों के प्रांगण, गाँव के चौराहों, चबूतरों आदि को पीपल का पेड़ सदा ही न केवल शुद्ध करता था, अपितु उसका एक महत्त्वपूर्ण अंग भी था, जिसकी शीतल छाँव तले बैठकर गाँव के बड़े-बूढ़े पंचायत करके गाँव की समस्याओं का हल ढूँढ़ते और न्याय करते थे।

पेड़-पौधों के लिए मिट्टी-पानी बहुत आवश्यक है, बिना इन दोनों के वह पनप ही नहीं सकते, पर पीपल सबसे निराला है। यह घरों की पथरीली दीवारों, उनकी दरारों, कुएँ के अंदर, ऊँचे गुंबजों की चोटियों पर, यहाँ तक कि खँडहरों में उग आता है। ऐसा इसलिए संभव है, क्योंकि पीपल की जड़ें जब तक जमीन में अपनी पकड़ नहीं बनातीं तब तक इसके पत्ते अपना आहार हवा की नमी व वर्षा के पानी से ही प्राप्त कर लेते हैं और जीवित रहते हैं।

बरगद के पेड़ की तरह पीपल को भी बोने की आवश्यकता नहीं होती। पक्षी इसके फल खाकर जहाँ-कहीं भी बीट कर देते हैं, पीपल वहीं बिना खाद-पानी के उगकर आकाश छूने लगता है। प्रकृति ने पीपल की जड़ों को इतना सशक्त बनाया है कि वे पथरीली भूमि व पत्थरों तक को भेदकर जमीन के बीच दूर-दूर तक फैल जाती हैं। यही कारण है कि पीपल के पेड़ों को बड़े-बुजुर्ग घर के अंदर लगाने से मना करते हैं, क्योंकि इसकी लोहे जैसी मजबूत जड़ें मकान की नींव को उखाड़कर क्षति पहुँचा सकती हैं। प्राचीन प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य एवं खगोलशास्त्री वराहमिहिर के अनुसार, पीपल घर के बाहर सामने लगाना शुभ होता है। परंतु वास्तुशास्त्र के अनुसार घर की पश्चिम दिशा की ओर पीपल का वृक्ष शुभ माना जाता है। पीपल का घर के पूर्व भाग में होना अशुभ है।

वैज्ञानिक दृष्टि से पीपल वृक्षों में सर्वश्रेष्ठ है। परीक्षणों द्वारा अब यह सिद्ध हो चुका है कि जितनी अधिक ऑक्सीजन पीपल का वृक्ष छोड़ता है, उतनी संसार का और कोई वृक्ष नहीं छोड़ता। हाँ, पौधों में यह गुण केवल तुलसी में है, इसलिए तुलसी भी पूजनीय है। प्राय: पेड़ दिन में ऑक्सीजन और रात में प्राणघातक नाइट्रोजन छोड़ते हैं। पर पीपल तो चौबीसों घंटे ही प्राणदायिनी ऑक्सीजन देता है। पीपल के पेड़ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अंतरिक्ष और पृथ्वी के बीच सभी विषैली गैसों को शुद्ध करके उन्हें ऑक्सीजन के रूप में प्राणियों के लिए छोड़ता है। पीपल को प्रकृति ने ऐसी क्षमता दी है कि वह विषैली वायु जैसे कार्बन डाइ-ऑक्साइड को शुद्ध करके ऑक्सीजन के रूप में प्राणियों के कल्याण के लिए छोड़ता है और उसका विषैला भाग अपने पास रख लेता है या पचा जाता है। वायु के विषैले भाग को अपने पास रखना ही पीपल का शिव रूप है। यह गुण भी किसी अन्य वृक्ष में नहीं है। अपने इन्हीं गुणों के कारण पीपल को वृक्षों का राजा कहा गया है और यह एक कल्याणकारी वनस्पति माना गया है।

पीपल के पेड़ की यह विशिष्टता उसके पत्तों की बनावट के कारण है। प्रकृति ने पीपल के पत्तों को बड़ी दक्षता से बनाया है। इसके ऊपरी भाग को देखने से ऐसा लगता है मानो किसी बलिष्ठ पुरुष के चौड़े कंधे हों और जिनका निचला भाग योद्धा कृष्ण की पतली मजबूत कमर के समान हो। पत्तों का अंतिम छोर सूई की तरह नुकीला होता है, जो प्रकृति की इंजीनियरिंग का एक अद्‍भुत नमूना है। पत्तों पर जब भी वर्षा का पानी गिरता है तो वह तुरंत ही

फिसलकर उस सूई की नोकवाले हिस्से से नीचे गिर जाता है और पत्ता सूखा रहता है। पत्तों का सूखा रहना वृक्ष के लिए अच्छा होता है। इस प्रकार की बनावट अन्य किसी वृक्ष के पत्तों में नहीं देखी जाती।

यदि आप पीपल के पत्ते को सुखाएँ तो देखेंगे कि उसमें अनगिनत बारीक नसों का एक जाल-सा है। ये नसें ही पीपल को ऑक्सीजन उत्पन्न व प्रवाहित करने में सहायक होती हैं। पीपल के पत्ते वृक्ष की टहनी के साथ एक लंबे-पतले डंठल के साथ बारीकी से जुड़े होते हैं। यह लंबी डंठल प्रकृति ने विशेष प्रयोजन से पीपल के पत्तों को प्रदान की है। इस पतली डंठल के कारण पीपल के पत्ते थोड़ी सी हवा चलने पर एकदम ऐसे नाचने लगते हैं मानो कोई संगीतकार तबले पर द्रुतलय में थाप दे रहा हो। पत्तों के इस प्रकार हलकी सी हवा से डोल पड़ने के कारण पीपल को चलदल या चलपत्र भी कहा जाता है। पत्ते एक नर्तकी की भाँति चारों ओर घूमते हैं, या डोलते हैं तो वे ऐसा करके अपने आस-पास हवा में जो जलकण होते हैं उन्हें अपनी ओर खींचकर अपने में समाविष्ट कर लेते हैं और इस प्रकार वे वृक्ष के पोषण में भी भाग लेते हैं। यह एक गहरा विज्ञान है, जो पीपल से जुड़ा है। शायद इसीलिए गीता में कृष्ण ने वृक्षों में 'मैं ही पीपल हूँ', ऐसा कहा है। इसे वृक्षों में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है, और शायद इसी कारण धर्मग्रंथों में पीपल के हर पत्ते पर देवताओं का वास बताया गया है।

पीपल में एक अन्य विशेषता यह है कि इसके पत्ते कितने भी घने क्यों न हों फिर भी इसके नीचे दिन में कभी अँधेरा नहीं होता, क्योंकि इसके पत्ते प्रायः जरा सी हवा में भी हिलने-डुलने लगते हैं। इस कारण सूर्य की किरणें छन-छनकर पीपल तले धरती पर सतत उतरती रहती हैं और वहाँ कभी अँधेरा नहीं होने देतीं। एक बात और, वह यह है कि सूर्य की किरणें जब उसके पत्तों पर आती हैं तो यह ठंडा करके ही उन्हें धरती पर आने देता है, जिसके कारण पीपल की छाँव सदा ठंडी होती है और उसके नीचे बैठकर प्राणी अपनी थकान शीघ्र ही मिटा सकते हैं।

प्रायः यह देखा गया है कि पेड़-पौधों पर फल लगने से पहले फूल आते हैं, पर पीपल पर सीधे ही फल आते हैं, फूल नहीं; क्योंकि इसका फूल फल में छिपा हुआ होता है। इसी कारण पीपल का एक और नाम 'गुह्यमपुष्पक' भी है। फल बरगद के फल की ही तरह गरमी के दिनों में पकता है।

पीपल की कई प्रजातियाँ हैं, जिनके कारण उनकी बनावट व पत्तों के रंगों में अंतर होता है। कुछ पेड़ सीधे और लंबे होते हैं, जबकि कुछ अधिक लंबे न होकर फैलाव में अधिक होते हैं और छतरी की तरह नीचे को झुके रहते हैं। ऐसे पेड़ बड़े-बूढ़ों की तरह आशीर्वाद देते-से लगते हैं। प्रायः ऐसे ही पीपल की पूजा होती है।

पीपल के पेड़ों का काटना या गिराना पाप माना जाता है। पीपल के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए ऋषि-मुनियों ने इसे न काटने का विधान बनाया और धार्मिक मान्यता दी। इसके अतिरिक्त पीपल लगाना एवं इस वृक्ष की रक्षा करना व साफ-सफाई करना भी पुण्य का कार्य माना जाता है। इसके लिए लोग पीपल के पेड़ के चारों ओर गोलाई में चबूतरा बना देते हैं और पीपल की पूजा करते हैं। यदि हम पीपल को काटते हैं तो उस स्थान का वातावरण असंतुलित हो जाएगा और वायु प्रदूषण को बढ़ाएगा। इस कारण पीपल को काटना निषेध है।

सनातन काल से पीपल के पेड़ का बुद्धि व बुद्धिमत्ता से संबंध रहा है। नदियों के किनारे पीपल की छाँव तले ऋषि-मुनि ध्यान लगाते और दैविक ज्ञान अर्जित करते थे। पीपल के नीचे का वायुमंडल मन को शांत करने में सहायक होता है, इसी कारण मस्तिष्क क्रिया शीघ्र एकाग्र हो जाती है, जो ध्यान योग में सहायता करती है। संभवतः इसी कारण पीपल के पेड़ को बोधिवृक्ष भी कहा गया है। गौतम बुद्ध को पूर्ण ज्ञान पीपल के पेड़ के नीचे ही प्राप्त हुआ था। सच्चा ज्ञान व सुख कैसे प्राप्त हो, इस सत्य की खोज में वे जगह-जगह देश में घूमे; पर उन्हें इस सत्य का ज्ञान न हुआ। अंत में जब वे मगध राज्य के गया नामक नगर में पहुँचे तो एक पीपल के पेड़ के नीचे इस संकल्प से कि वे जब तक पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेते, वहाँ से नहीं उठेंगे और वहीं ध्यानस्थ हो गए। कई दिन ध्यानमग्न

रहने के बाद पूर्णमासी के दिन उनकी तपस्या सफल हुई और उन्हें उस प्रश्न का उत्तर प्राप्त हो गया, जिसकी तलाश वे वर्षों से कर रहे थे। तभी से गौतम 'बुद्ध' कहलाए जाने लगे। उन्हीं का चलाया गया बौद्ध धर्म आज चीन, जापान, म्याँमार, मलाया, श्रीलंका, थाईलैंड, तिब्बत, भूटान आदि एशिया के अनेक देशों में प्रचलित है।

भगवान् बुद्ध ने पूर्ण ज्ञान पीपल के वृक्ष के नीचे प्राप्त किया था, अतएव बौद्ध देशों में यह वृक्ष पवित्र माना जाता है। जहाँ उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था, वह स्थान अब 'बोधगया' के नाम से जाना जाता है। आज भी वहाँ यह वृक्ष मौजूद है, जिसके नीचे भगवान् बुद्ध बैठे थे। इस वृक्ष से उत्पन्न कई पौधे तथा इसकी टहनियाँ बौद्ध-काल से अब तक कई देशों को भेजी गई हैं। सम्राट् अशोक ने जो पौधा अपने पुत्र-पुत्री द्वारा श्रीलंका भेजा था, वह इसी बोधि-वृक्ष का ही था।

पीपल की छाँव और इसके पत्तों से छनी हुई हवा मस्तिष्क को चेतना और ताजगी देती है। अथर्ववेद में लिखा है 'यात्राश्वत्था...प्रतिबुद्ध अभूतन' अर्थात् जहाँ अश्वत्थ (पीपल) के वृक्ष होते हैं वहीं प्रतिबुद्धता होती है। प्राचीन ग्रंथों के अनुसार यदि कोई व्यक्ति वसंत के मौसम में कुल पाँच पके पीपल-फल प्रतिदिन सेवन करे तो उसकी स्मरण-शक्ति तीव्र होती है। महर्षि दयानंद, जिन्हें व्याकरण, निरुक्त, छंद व अनेक धर्मशास्त्र कंठस्थ थे, ऋतु के समय पीपल के फलों का सेवन करते थे। प्राचीन काल में गुरुकुलों की कक्षाएँ पीपल के पेड़ों के नीचे लगती थीं, जहाँ विद्यार्थी उसकी शुद्ध व स्मरण-शक्तिवर्धक वायु में वेद-पाठ कंठस्थ करते थे। श्रीकृष्ण पीपल की महिमा से भली-भाँति परिचित थे, शायद इसीलिए उन्होंने जब अपनी जीवन-लीला पृथ्वी पर समाप्त करने की सोची तो मृत्यु के लिए उन्होंने पीपल की छाँव को ही चुना और उसके नीचे ही अपने प्राण त्यागे।

पीपल का एक आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि इसका नित्य स्पर्श शरीर में रोग-प्रतिरोध की क्षमता बिना किसी टॉनिक के बढ़ा देता है। यही नहीं, इससे अंतर्मन की शुद्धि होती है और मनुष्य के दब्बूपन का नाश होता है, साथ ही उसका आत्मविश्वास भी बढ़ता है। निरंतर पीपल-पूजन से मनुष्य के शरीर के आभामंडल का शोधन होता है तथा उसकी विचारधारा में धनात्मक परिवर्तन होता है। पीपल का स्पर्श करते समय मन में ऐसी मंगल भावना करनी चाहिए कि 'हम तेजस्वी हो रहे हैं और हमारी बुद्धि का विकास हो रहा है।' मंद बुद्धिवाले व्यक्ति व बच्चों के लिए पीपल का शाश्वत स्पर्श विशेष लाभदायी है। पीपल का स्पर्श मनुष्य का आलस्य भी दूर करता है।

शायद इन्हीं कारण से रावण जैसे ज्ञानी व राक्षसराज ने लंका में पीपल के वृक्ष लगवा रखे थे। सम्राट् अशोक ने भी असंख्य पीपल वृक्ष पूरे भारत में सड़कों के दोनों ओर लगवाए थे। सड़क के किनारे पीपल के वृक्षों को लगवाने का अशोक का एक बड़ा कारण यह था कि उनकी घनी व ठंडी छाँव राहगीरों की थकान शीघ्र दूर कर देती थी और उन्हें उत्तर भारत की गरमी की कड़ी धूप से भी बचाती थी। इसके अतिरिक्त पीपल से सड़कों का रक्षण भी होता था, क्योंकि पीपल की जड़ें दूर-दूर तक जमीन में नीचे गहरी फैली रहती हैं, इसलिए वृक्षों के आसपास की भूमि का वर्षा ऋतु में कटाव कम होता है। सम्राट् अशोक ने पीपल की धार्मिक महत्ता के अलावा इसके सामाजिक पहलू को भी ध्यान में रखकर इसके पेड़ सड़कों के दोनों ओर लगवाए।

पीपल न केवल भारत में अपितु अन्य कई देशों—म्याँमार, श्रीलंका, नेपाल, चीन, जापान, मलाया, भूटान, थाईलैंड आदि में एक पूजनीय वनस्पति है, जिसका मुख्य कारण इस वृक्ष का भगवान् बुद्ध के जीवन से जुड़ा होना है।

पीपल से संबंधिक मान्यताएँ— पीपल से संबंधित कई मान्यताएँ भी हैं। एक तो यह कि निरंतर पीपल पूजन से मनुष्य के शरीर का आभा मंडल का शोधन हो जाता है। पीपल के नीचे बैठकर दीया जलाने व काले तिल अर्पण करने से शनि व राहु गृहों का कुप्रभाव भी दूर होता है। नीचे न तो कभी झूठ बोलना चाहिए और न ही किसी को

धोखा देना चाहिए। ऐसा करनेवाले का अनिष्ट होता है, क्योंकि पीपल में वास करनेवाली पवित्र आत्मा उस झूठ या धोखे की साक्षी बन जाती है और प्रकृति उसे तुरंत दंडित करती है। पहले लोग अनिष्ट के डर से बाजारों में पीपल के पेड़ नहीं लगाते थे।



शरत् पूर्णिमा की रात्रि में चंद्र किरणों से भीगी खीर खाने का विज्ञान

सूर्य की किरणों व चंद्रमा की रश्मियों में रोगनाशक शक्ति होती है, ऐसी भारत के मनीषियों की हजारों साल पुरानी मान्यता है। सूर्य की किरणों का प्रभाव मनुष्य के शरीर पर पड़ता है। इस सत्य को तो आज का मानव भी मानता है। चंद्रमा का मनुष्य के मस्तिष्क पर असर होता है, यह तथ्य भी वह स्वीकारता है। पर चंद्रमा की रश्मियाँ पेड़-पौधों पर असर करती हैं, यह बात वह पूर्णरूप से नहीं स्वीकारता। इसके विपरीत, आर्युवेद के अनुसार चंद्रमा की रश्मियों का वनस्पति पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। चंद्रमा के घटने व बढ़ने के साथ-साथ पेड़-पौधों के अंदर जो रसायन होता है, वह भी घटता-बढ़ता रहता है और उनका प्रभाव भी भिन्न होता है। इस कारण आयुर्वेद में औषधियों को तैयार करने के लिए पेड़-पौधों से फल व पत्तियाँ चंद्रमा की स्थिति के अनुसार तोड़ने का विधान है।

भारतीय मनीषियों का ऐसा मानना है कि शरत् पूर्णिमा के चंद्रमा की रश्मियाँ भौगोलिक स्थिति के कारण भारत के भू-भाग पर विशेष प्रभाव रखती हैं। इसलिए इस रात्रि में देशी गाय के दूध व चावल से बनी चारू (खीर) बहुत लाभदायक होती है। यह विशेष प्रकार से तैयार की जाती है। शुद्ध मिश्री, इलायची मिलाकर उसको मलमल के कपड़े से ढककर रात्रि में ८-९ बजे से अर्धरात्रि के बाद तक चंद्रमा की शीतल व आरोग्यप्रद रश्मियों में रखें। तत्पश्चात् भगवद्स्मरण करते हुए उस खीर को उसी रात्रि को सकुटुंब खाएँ। ऐसा करने से आप वर्ष भर रोग-प्रतिरोधक शक्ति प्राप्त करते हैं। चंद्रमा की रश्मियाँ अपने प्रभाव से खीर को एक अचूक टॉनिक की तरह बना देती हैं। ऐसी भी मान्यता है कि शुक्ल पक्ष में यदि किसान बीज बोते हैं तो उनकी फसल अधिक लाभदायक होगी, क्योंकि चंद्रमा का प्रभाव उस समय बीज पर अपना प्रभाव डालता है और वह सशक्त होकर अंकुरित होता है।

परंतु वायु प्रदूषित इस युग में चंद्रमा की किरणें भी हमें आज शुद्ध रूप में महानगरों में नही मिलतीं। ऐसे में शरत् पूर्णिमा की खीर किसी शुद्ध स्थान पर बनाना हितकर है।



गुरु पूर्णिमा क्यों मनाते हैं

आषाढ मास में जो पूर्णिमा आती है, उसे गुरु पूर्णिमा कहते हैं। पूर्णिमा यों तो हर मास ही आती है, पर आषाढ मास की पूर्णिमा के दिन आकाश में ग्रहों की जो स्थिति बनती है, उस समय बृहस्पति यानी गुरु-ग्रह (Jupitor) के तत्त्व दूसरी अन्य पूर्णिमाओं की अपेक्षा सबसे अधिक विद्यमान होते हैं। इस कारण इस दिन गुरु का आशीर्वाद तथा कृपा हमें कई गुना अधिक प्राप्त हो सकती है। अत: इस अवसर पर शिष्य गुरु के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करके उनके आशीर्वाद को अधिक-से-अधिक मात्रा में प्राप्त कर सकते हैं। यही है इसका विज्ञान।

यहाँ 'गुरु' का अर्थ विद्या पढ़ानेवाले स्कूल या कॉलेज के प्राध्यापक से नहीं है, क्योंकि वे तो केवल शिक्षक हैं, शुद्ध रूप से 'गुरु' नहीं। गुरु का अर्थ उस आध्यात्मिक व्यक्ति विशेष से है जो ब्रह्म को जानता है और हमारी आध्यात्मिक उन्नति करा सकता है। इसलिए केवल भगवा वस्त्र पहननेवालों को या लंबी दाढ़ी रखनेवालों को गुरु की संज्ञा नहीं दे सकते, उन्हें हम केवल आध्यात्मिक बातें करनेवाले बुद्धिजीवी तो कह सकते हैं, पर 'गुरु' नहीं। भारतीय दर्शन के अनुसार, सच तो यह है कि 'गुरु' को ढूँढ़ा नहीं जाता, अपितु जब आप शिष्य बनने योग्य हो जाएँगे और अध्यात्म की यात्रा के लिए तैयार होंगे, तब गुरु आपको ढूँढ़ता हुआ स्वयं आपने पास आ जाएगा। पर ऐसा होने के लिए कई जन्मों की प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

गुरु ढूँढ़ने से नहीं मिलते, कारण गुरुतत्त्व सूक्ष्मतम है। अध्यात्म में शिष्य गुरु को धारण नहीं करता, अपितु गुरु ही शिष्य को चुनते हैं, आगे का मार्ग बताते हैं। भविष्य में कौन उनका शिष्य होगा, यह एक सच्चे गुरु को पहले से ही ज्ञात होता है। गुरुकृपा बिना गुरुप्राप्ति नहीं होती है। एक आश्चर्य की बात यह है कि आज तीन युगों की तुलना में कलयुग में गुरुप्राप्ति व गुरुकृपा प्राप्त करना कठिन नही है। बस आप में इस प्राप्ति के लिए सच्ची लगन होनी चाहिए। गुरु एक दिन आपके उद्धार के लिए आपके द्वार पर होंगे।



मौन व्रत रखने के पीछे क्या विज्ञान है

वाणी शब्द-शक्ति (Sound energy) है। छांदोग्योपनिषद् के अनुसार वाणी तेजोमयी है और इसकी रचना अग्नि के स्थूल भाग, हड्डी के मध्य भाग (Bone marrow) तथा मज्जा के सूक्ष्म भाग से होती है। वाणी के देवता अग्निदेव हैं।

जब कोई व्यक्ति बोलता है तो इस शक्ति को खर्च करता है और जब कोई व्यक्ति ज्यादा बोलता है तो इस शक्ति को ज्यादा खर्च करता है। अधिक बोलने से व्यक्ति चंचल बनता है। अत: जो व्यक्ति व्यर्थ या जरूरत से ज्यादा बोलते हैं, उनके चित्त में ठहराव नहीं होता, जिस कारण उनकी एकाग्रता क्षीण तथा विचार-शक्ति कम होती है। वैखरी वाणी के कारण मनुष्य के मन की कल्पनाएँ उसकी शक्ति को व्यर्थ रूप से कम करती हैं।

आज तक जितने भी महापुरुष एवं विभूतियाँ हुई हैं, वे मितभाषी व मधुरभाषी थीं। उन्होंने अपने जीवन में वाणी-शक्ति का उपयोग बड़े संयम से किया। उनके जीवन में मौन व एकांतवास का विशेष महत्त्व था। मौन से शक्ति की सुरक्षा, संकल्प-शक्ति में वृद्धि तथा वाणी के आवेग पर नियंत्रण रहता है। क्रोध के दमन में मौन बहुत ही सहायक है। इसलिए जो व्यक्ति अपने क्रोध पर नियंत्रण रखना चाहते हैं, उनके लिए 'मौन' एक अचूक साधन है।

मौन के दौरान आप अंतर्निरीक्षण तथा आत्मविश्लेषण (Self Analysis) अच्छी तरह से कर सकते हैं और अपने विचारों का सूक्ष्मता से विश्लेषण कर सकते हैं। यही नहीं, मौन से आपकी एकाग्रता-शक्ति का भी विकास होता है। एक और लाभ मौन का यह है कि मनुष्य बहुत सारे पापों और दोषों से बच जाता है। मौन से मनुष्य के प्राण तालबद्ध होकर सूक्ष्म होने लगते हैं तथा मन के दोष दूर होते हैं, जिससे उसके शरीर की विद्युत् शक्ति बढ़ती है और शरीर नीरोग रहता है।

जिन लोगों के बच्चे अधिक चंचल होते हैं या उनकी एकाग्र-शक्ति क्षीण है, उन्हे अपने बच्चों को एक घंटा मौन रखने का अभ्यास कराना चाहिए। मौन रखने का नियम अध्यात्म की उन्नति के लिए अति उत्तम है।



चातुर्मास्य का माहात्म्य

वर्षाकाल के चार महीनों को चातुर्मास्य के नाम से जाना जाता है। इन चार महीनों में भगवान् विष्णु योगनिद्रा में शेषशय्या पर शयन करते हैं, इसलिए यह समय जलतत्त्व के विज्ञान से जुड़ा है। ज्योतिष के अनुसार इन दिनों सूर्य कर्क राशि पर स्थित रहता है। चातुर्मास्य का समय आषाढ शुक्ल एकादशी से लेकर कार्तिक शुक्ल एकादशी तक होता है। श्री हरि की आराधना के लिए यह समय उत्तम है। सब तीर्थ, देवस्थान, दान और पुण्य चातुर्मास्य आने पर भगवान् विष्णु की शरण लेकर स्थित होते हैं। जो मनुष्य चातुर्मास्य में नदी में स्नान करता है, विशेष रूप से तीर्थ नदियों में, उस व्यक्ति के अनेक पापों का नाश हो जाता है, क्योंकि वर्षा का जल स्थान-स्थान से धरती की मिट्टी से प्राकृतिक शक्ति को सँजोकर नदी के बहाव के साथ समुद्र की ओर ले जाता है। वर्षाकाल में नदियों का जल कई रोगों का नाश करता है।

चातुर्मास्य में भगवान् नारायण जल पर शयन करते हैं। अत: जल में भगवान् विष्णु के तेज, तत्त्व व ओज तीनों का अंश भी व्याप्त रहता है। इसलिए उस तेज से युक्त जल का स्नान समस्त तीर्थों के पुण्यों से भी अधिक फलदायी है। चातुर्मास्य में बालटी में एक-दो बिल्वपत्र डालकर 'ॐ नम: शिवाय' मंत्र का ४-५ बार जप करके स्नान करें तो विशेष लाभ होता है। इससे शरीर का वायु दोष दूर होता है और स्वास्थ्य की रक्षा होती है।

चातुर्मास्य में काला और नीला वस्त्र पहनना हानिकारक है, क्योंकि वातावरण इन दिनों निर्मल होता हैं, अत: सूर्य की किरणें तीव्र होती हैं। ये दोनों रंग सूर्य की किरणों से अन्य सभी रंगों को समाविष्ट कर लेते हैं। वर्षा ऋतु में सूर्य किरणों की तीव्रता अधिक मात्रा में होती है, जो शरीर के लिए हानिकारक है, इसीलिए इन दोनों रंगों के वस्त्र वर्जित हैं। इन चार महीनों में भूमि पर शयन, ब्रह्मचर्य-पालन, पत्तल में भोजन, मौन, ध्यान, दान-पुण्य और उपवास आदि विशेष लाभप्रद हैं। चातुर्मास्य में परनिंदा का विशेष रूप से त्याग करना चाहिए। परनिंदा को सुननेवाला भी पाप का भागी होता है। परनिंदा एक महान् पाप है। इस दोष का फल अगले जन्मों में मनुष्य को यश से वंचित रखता है।

जो व्यक्ति पंद्रह दिन में एक दिन संपूर्ण उपवास करे, उसके शरीर के अनेक दोष नष्ट हो जाते हैं और चौदह दिनों में उसके शरीर में भोजन से जो रस बनता है, वह ओज में बदल जाता है। इसलिए एकादशी के उपवास का महत्त्व है।

चातुर्मास्य में चूँकि भगवान् नारायण योगनिद्रा में होते हैं, इसलिए इन महीनों के दौरान हिंदू शादी-विवाह और दूसरे सकाम यज्ञ आदि नहीं करते। ये चार मास नाम-जप व तपस्या के लिए उपयुक्त हैं।

इसलाम धर्म में भी रमजान के महीने में एक माह का व्रत रखने का प्रावधान है। व्रत के अतिरिक्त 'कुरान' के अनुसार, इस पवित्र मास में एक सच्चा मुसलमान अपने द्वारा वर्ष भर में किए पापों का प्रायश्चित्त करता है, परनिंदा से दूर रहता है, दान करता है और पाँचों वक्त की नमाज पढ़ता है। इन सब बातों का अर्थ यह हुआ कि दोनों धर्मों में शारीरिक व्रत के साथ-साथ मानसिक व्रत भी करना जरूरी है। मानसिक व्रत के बिना आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती।



सनातन-ध्वजा केसरिया क्यों

हमने भारत के तिरंगे को मान्य कर उसे भारत के राष्ट्रीय ध्वज के रूप में स्वीकारा तो इसमें हमने सर्वप्रथम केसरिया रंग को डाला। इस रंग को इतनी महत्ता देने का कारण था कि यह रंग भारत की मूल संस्कृति से जुड़ा है और इसके पीछे एक गहरा 'दर्शन' है।

केसरिया रंग दो प्राथमिक रंगों लाल व पीला का मिश्रण है। पुरातन मान्यताओं के अनुसार लाल रंग माँ दुर्गा, गणेश और हनुमान से जुड़ा है। यह रंग शक्ति का द्योतक है। यह रंग कर्मठता को इंगित करता है। यह रंग पौरुष को दरशाता है। यह रंग हमें कर्मशील होने को कहता है। दूसरी ओर पीला रंग विष्णु और बृहस्पति दोनों का परिचायक है। विष्णु को सदा से शांत रहनेवाले, पर हर समस्या का समाधान निकालनेवाले विवेकशील देव के रूप में माना गया है। बृहस्पति को तो ज्ञान-स्वरूप ही कहते हैं। वे बुद्धिमत्ता के सागर हैं।

इस प्रकार केसरिया रंग जो लाल और पीले रंगों का मिश्रण है, जहाँ हमें सक्रिय, कर्मठ और पौरुष होने की प्रेरणा देता है, वहीं यह भी संदेश देता है कि हम सक्रिय रहते हुए विवेक से भी काम लें। ऐसा कर्म जो बुद्धि और विवेक के साथ न किया गया हो, कल्याणकारी नहीं हो सकता। इसीलिए इन दोनों रंगों की युक्तिवाला केसरिया रंग महत्त्वपूर्ण है। यही इसका 'दर्शन' है।

हमारे ऋषि-मुनि भगवा इसी कारण पहनते थे, ताकि उन्हें दोनों रंगों की तरंगें प्राप्त होती रहें। वे हमारे प्राचीन समाज के सक्रिय अंग थे, केवल उपदेशक नहीं। जो लोग यह समझते हैं कि साधु-संत समाज के निष्क्रिय अंग हैं, तो वे इनके योगदान को नहीं पहचानते। सनातन ऋषि-मुनियों से प्रेरणा लेनी चाहिए। वैसे आजकल के साधु-संत अधिकतर पुरातन कसौटी पर खरे नहीं उतरते।



वास्तुशास्त्र का विज्ञान

वास्तुशास्त्र एक प्राचीन विज्ञान है। वर्तमान काल में इसका महत्त्व और भी बढ़ गया है, क्योंकि जनसंख्या की वृद्धि, भौतिक साधनों की प्रचुरता और महानगरों में आवासीय समस्याएँ दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं। आज सीमित भू-भाग में बने आवास और गगनचुंबी अट्टालिकाएँ कुकुरमुत्तों सी फैल रही हैं। विडंबना है कि भौतिक समृद्धि के बावजूद मनुष्य की मानसिक शांति और वास्तविक सुखानुभूति कम होती जा रही है, जिसका एक कारण यह भी है कि हमने भौतिकता की दौड़ में पाश्चात्य जीवन-शैली का अंधानुकरण करना शुरू किया है, जबकि पाश्चात्य शैली भारतीय जीवन-पद्धति के लिए बिलकुल प्रतिकूल है।

भारतीय पूर्णरूपेण वैदिक संस्कृति और परंपराओं के पक्षधर रहे हैं। भौतिकतावादी चिंतन और अनुकरण हमें मानसिक अशांति, हिंसा, उन्माद और शारीरिक असंतोष की ओर ले जा रहे हैं। इन सभी दुष्परिणामों का मुख्य कारण है हमारे दोषपूर्ण आवास, व्यावसायिक संस्थान और विश्वविद्यालय आदि।

पिछले तीन-चार दशकों में भारत ने भौतिक जगत् में तो आशातीत उन्नति की है, पर दूसरी ओर सांस्कृतिक-आध्यात्मिक मूल्यों का जितना ह्रस हुआ है, उसकी तो कल्पना ही नहीं की जा सकती।

प्राचीन काल में भारत विश्व में अध्यात्म में कई क्षेत्रों में अग्रणी रहा, क्योंकि हमारे प्राचीन विश्वविद्यालयों की नींव वैदिक वास्तु के आधार पर रखी गई थी। हमारे देवालय, उपवन और आश्रम निश्चय ही आध्यात्मिक शांति और शक्ति का संचार करते थे। यद्यपि आज प्राचीन महल, मंदिर और उपवनों के केवल अवशेष रह गए हैं, फिर भी वे हमें अपनी ओर आकर्षित करते हैं। इसके विपरीत, आधुनिक वास्तुशिल्प में बाह्याकर्षण तो है, परंतु आंतरिक सुख और शांति का पूर्णत: अभाव होता है।

आचार्य वराहमिहिर और ऋषि वसिष्ठ जैसे विद्वानों ने बहुत पहले ही सिद्ध कर दिया था कि किसी भी भूखंड या भवन का आकार-प्रकार का अभाव उसमें निवास करनेवाले परिवारों पर विशेष रूप से पड़ता है। इसी सत्य पर ही वास्तुशास्त्र की नींव आधारित है।

वास्तुशास्त्र के पीछे विज्ञान यह है कि प्रकृति के पाँचों तत्त्व—जल, वायु, अग्नि, आकाश व पृथ्वी नवग्रहों के साथ मिलकर जब एक अनुकूल दबाव या प्रभाव किसी स्थान पर बनाते हैं तो उस स्थान के चारों ओर सुख-शांति का एक वर्तुल बन जाता है और वहाँ सुख के साथ वैभव आता है। इसके विपरीत, जब प्रकृति के इन तत्त्वों में सामंजस्य नहीं होता तो वहाँ सबकुछ विपरीत होता है।

हमारे ऋषि-मुनियों ने इस विज्ञान का गहन अध्ययन किया और कई सूत्र बनाए, जिनके अनुसार यह निश्चित किया कि किसी भी मकान को बनाते समय उसका कौन सा भाग किस दिशा में हो, घर के किस भाग में घर के किस व्यक्ति को रहना चाहिए, ताकि प्रकृति के तत्त्वों से हमें अधिक-से-अधिक लाभ मिले और सुख-शांति प्राप्त हो। जब हम मकान या दुकान बनाते समय इन सूत्रों या नियमों का पालन नहीं करते तब हमारे जीवन में गड़बड़ शुरू हो जाती है।

आज के इस युग में वास्तुशास्त्र के सारे सूत्र या नियम हम पूर्णरूप से पालन नहीं कर सकते, परंतु जो कुछ भी, जितना भी पालन कर सकते हैं, उनका पालन अवश्य करें।

हर व्यक्ति यही चाहता है कि उसके पास खूब धन-दौलत और घर में सुख-शांति हो। उसका व्यवसाय, दुकान, फैक्टरी या फिर कार्यालय ऐसा हो जहाँ वह दिन दुगुनी व रात चौगुनी प्रगति करे। ऐसा तभी हो सकता है जब

उसके भाग्य में ऐसा लिखा हो। भाग्य केवल ग्रहों से या आदमी की अपनी मेहनत से ही नहीं बनता। वह स्थान, जहाँ वह रहता है या काम करता है, की आंतरिक शक्तियाँ भी भाग्य में योग देती हैं। यदि वह स्थान, जहाँ वह व्यक्ति रहता है, वास्तुशास्त्र के अनुसार निर्मित नहीं है तो उस व्यक्ति के अच्छे भाग्य के होते हुए भी उसकी उतनी उन्नति नहीं होगी जितनी कि हो सकती या फिर पैसा तो उसके पास बहुत होगा, पर खर्चे इतने होंगे कि बचत शून्य होगी या फिर घर में शांति नहीं होगी और बीमारियाँ घेर लेंगी। हो सकता है—मकान में आग लग जाए, चोरी हो जाए, या फिर बिजली के उपकरणों में अकसर खराबी आती रहे। ऐसे कई कष्ट हो सकते हैं, जिनका संबंध व्यक्ति के भाग्य से अधिक उस स्थान की वास्तु से होता है, जहाँ वह रहता है अथवा कार्य करता है।



मंगलवार को नाखून व बाल क्यों नहीं काटने चाहिए

समाज को व्यवस्थित रूप देते समय जब साप्ताहिक दिनों को ग्रहों से जोड़कर उनका नामकरण किया गया तब यह ध्यान रखा गया कि किस दिन कौन सा ग्रह पृथ्वी पर अपना अधिक प्रभाव रखेगा, जिसके कारण मनुष्यों पर भी उस ग्रह का प्रभाव पड़ेगा।

मंगलवार को मंगल ग्रह का पृथ्वी पर प्रभाव अन्य ग्रहों की अपेक्षा अधिक होता है। खगोलशास्त्र के अनुसार मंगल एक उग्र ग्रह है, इसलिए सप्ताह के इस दिन उसकी तरंगें मनुष्य को अधिक प्रभावित करती हैं, जिस कारण मनुष्य के शरीर में अधिक ऊर्जा या गरमी पैदा होती है। इससे मनुष्य के शरीर की आंतरिक शक्ति व ताप बढ़ जाता है। प्रकृति ने हमारे शरीर की संरचना इस प्रकार से की है कि वह अपने आप ही आवश्यकता के अनुसार शरीर की गरमी-सर्दी को संतुलित कर लेता है। इस संतुलन को बनाने में हमारे शरीर के व्यर्थ माने जानेवाले अंग नाखून व बाल दोनों की बड़ी भूमिका होती है, विशेषरूप से मंगलवार के दिन, क्योंकि मंगलवार को शरीर में उत्पन्न होनेवाली अतिरिक्त ऊर्जा व मानव-विद्युत् (Human electricity) को ये दोनों अंग अपने में संचित करके रखते हैं और इस प्रकार से शरीर की आंतरिक ऊर्जा या मानव-विद्युत् को संतुलित बनाए रखने में सहायक होते हैं।

मंगलवार के दिन जब हम बाल या नाखून काटते हैं तो शरीर की मानव-विद्युत् का क्षय हो जाता है और उसका आंतरिक संतुलन बिगड़ जाता है, जो हमारे शरीर के लिए हानिकारक है। इसी वैज्ञानिक सत्य के कारण हमारे पूर्वजों ने इस दिन बाल व नाखून काटने को अनुचित बताया है। आधुनिक विज्ञान का ध्यान शायद अभी तक शरीर के इस वैज्ञानिक तथ्य भी ओर नहीं गया है। निश्चय ही इस पर शोध करने की आवश्यकता है।

आज ऐसे अनेक लोग हैं, जिनका मानना है कि इस मान्यता में कोई सत्यता नहीं है, ये सब बातें मात्र अंधविश्वास हैं। परंतु वे यह नहीं समझते कि ऐसा करने से उनका जो शारीरिक नुकसान होता है, वह एक बार में इतना न्यून होता है कि उस नुकसान का एकदम प्रभाव महसूस नहीं होता, पर अंतत: होता जरूर है। वह प्रभाव कुछ समय बाद, जिसके किसी विकार को पैदा कर देता है, वास्तविक कारण का पता ही नहीं चलता। इसी कारण, पहले जब आधुनिक हेयर सैलून नहीं थे तब नाई की दुकानें मंगलवार को बंद रहती थीं। आज भी मंगलवार को ऐसी कुछ दुकानें बंद रहती हैं।



मंदिरों में शंख व घंटा बजाने का विज्ञान

यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि ध्वनि विस्तार में सूर्य की किरणें बाधक होती हैं। इसी कारण रेडियो प्रसारण दिन की अपेक्षा रात को अधिक स्पष्ट होता है। प्राय: सायंकाल व सूर्य किरणें जब निस्तेज होती हैं तब शंख फूँकने व घंटा-घड़ियाल बजाने का विधान है। एक बार शंख फूँकने पर जहाँ तक उसकी ध्वनि जाती है, वहाँ तक बीमारियाँ के कीटाणु, जो वातावरण में विद्यमान होते हैं, निष्क्रिय हो जाते हैं। इसी प्रकार की ध्वनि के प्रभाव से वे कीटाणु या तो नष्ट हो जाते हैं या फिर निष्क्रिय। जाने-माने वैज्ञानिक श्री जगदीशचंद्र बसु ने इस सत्य को यंत्रों द्वारा प्रमाणित किया था। नियमित शंख व घड़ियाल की ध्वनि वायुमंडल को विशुद्ध बनाने व पर्यावरण को संतुलित करने में अत्यंत सहायक होती है। इस वैज्ञानिक सत्य की खोज हजारों वर्ष पूर्व हमारे ऋषि-मुनियों ने की थी।

शंख और घंटे-घड़ियाल की ध्वनि से स्थूल पदार्थों में से भी उनकी नकारात्मकता (Negativity) नष्ट हो जाती है। यही कारण है कि मंदिरों की दीवारें भी शांति प्रदान करती हैं। इसके अतिरिक्त, मूकता और हकलापन दूर करने के लिए शंख ध्वनि श्रवण करना एक महौषधि है। निरंतर शंख फूँकनेवाले व्यक्ति को श्वास की बीमारी, दमा एवं फेफड़ों का रोग नहीं होता, क्योंकि शंख फूँकने से फेफड़ों से शरीर की सारी दूषित वायु बाहर निकल जाती है और साथ ही उनकी वायु-धारण क्षमता भी बढ़ती है।

आपने देखा होगा कि प्राय: मंदिरों आदि में आरती के पश्चात् शंख में जल भरकर उपस्थित जनों पर उसे छिड़का जाता है। इसी प्रकार शंख के जल से देवालय में रखी समस्त पूजा सामग्री का प्रक्षालन करते हैं। ऐसा करने से वे सब वस्तुएँ सुवासित एवं रोगाणु-रहित होकर शुद्ध हो जाती हैं। शंख में जल रखने से उस जल में रोगाणुओं को नष्ट करने की क्षमता आ जाती है, क्योंकि शंख में गंधक, फास्फोरस और कैल्सियम की मात्रा होती है। इस कारण शंख में रखा जल विसंक्रामक (Disinfect) हो जाता है।



सोते समय पाँव दक्षिण दिशा की ओर क्यों नहीं रखने चाहिए

सनातन मान्यता के अनुसार हमारा शरीर मस्तिष्क उत्तर और पाँव दक्षिण दिशा के द्योतक हैं। सौरमंडल में ध्रुव (Palastar) उत्तर दिशा में स्थित है। यदि कोई व्यक्ति दक्षिण की ओर पाँव और सिर उत्तर दिशा की ओर करके सोएगा तो ध्रुवाकर्षण के सिद्धांतानुसार उसके पेट का भोजन पचने के बाद मल-अंश के रूप में नीचे गुदा की ओर जाने के बजाय ऊपर हृदय की ओर खिंचेगा, जिससे उस व्यक्ति के हृदय व मस्तिष्क पर हानिकारक प्रभाव पड़ेगा। यदि वह व्यक्ति निरंतर अपने पाँव दक्षिण दिशा की ओर रखकर सोएगा तो कुछ समय बाद बीमार हो जाएगा। हिंदू धर्मशास्त्रों में दक्षिण दिशा को यम (मृत्यु) का स्थान माना जाता है, इस कारण दक्षिण दिशा की ओर निरंतर पाँव करके सोनेवाले व्यक्ति की आयु घटती है। इसीलिए दक्षिण दिशा की ओर पाँव रखकर न सोने को कहा गया है।

इसके विपरीत, यदि हम उत्तर दिशा की ओर पाँव करके सोएँगे तो चुंबकीय सिद्धांत (Magnetic principle) के अनुसार पेट में पड़ा भोजन ठीक तरह से पचकर नीचे गुदा की ओर जाएगा। उस व्यक्ति को अच्छी नींद आएगी और सुबह वह चुस्त-दुरुस्त होकर उठेगा, क्योंकि ध्रुवाकर्षण के सिद्धांतानुसार दक्षिण से उत्तर दिशा की ओर चल रहा प्राकृतिक विद्युत् प्रवाह हमारे मस्तिष्क से गुजरता हुआ पाँवों के रास्ते शरीर से बाहर प्रवाहित हो जाएगा। फलत: उस व्यक्ति का स्वास्थ्य ठीक रहेगा और उसकी आयु भी बढ़ेगी।

हमारी यह प्राचीन मान्यता कितनी वैज्ञानिक है, इसे आधुनिक मानव जब चाहे विज्ञान की कसौटी पर कसकर देख ले। वैसे वास्तुशास्त्र में विश्वास रखनेवाले इस मान्यता को पूर्ण रूप से मानते हैं।



प्राचीन काल में पुरुषों के दोनों कानों को छेदा जाता था, क्यों?

हमारे प्राचीन ऋषियों-मुनियों को मानव शरीर की आंतरिक रचना का पूरा व गहरा ज्ञान था। आयु बढ़ने पर प्राय: शौच करते समय जोर लगाने से मूत्र के साथ अज्ञातरूप से वीर्य स्खलित होने लगता है और यदि इस पर ध्यान न दिया जाए तो यह एक भयंकर रोग का रूप धारण कर सकता है। परंतु यदि कानों को बिंधवा लिया जाए तो वीर्य स्खलित होने का भय नहीं रहता। यह एक प्रकार का उपचार है। प्राचीन काल में कानों का या यज्ञोपवीत के समय छेदना किया जाता था, ताकि कानों की नाड़ियाँ जाग्रत् होकर संचेष्ट हो जाएँ। इस प्रकार ऋषि-मुनि सम्मिलित रूप से अपना वीर्य संरक्षण करते थे और साथ ही यज्ञोपवीत की पवित्रता भी बनाए रखते थे।

कानों के भेदन से व्यक्ति डायबिटीज, प्रमेह एवं मल-मूत्र संबंधित अनेक बीमारियों से बच सकता है। आजकल तो कान बिंधवाना और उनमें सुंदर लौंग पहनना पुरुषों के लिए भी एक फैशन बन गया है। उनका यह फैशन अनजाने में उनके लिए कितना हितकर है, वे यह नहीं जानते।

आपने कई लोगों को लघुशंका करते समय कान पर जनेऊ लपेटे देखा होगा, उनकी इस मान्यता के पीछे भी इसी प्रकार का एक वैज्ञानिक सत्य है। आयुर्वेद के अनुसार 'लोहितिका' नामक एक विशेष नाड़ी मनुष्य के दाहिने कान से होकर उसके मल-मूत्र द्वार पर पहुँचती है। यदि इस कान की नाड़ी को पीछे से थोड़ा सा हाथ से दबाएँ तो व्यक्ति का मूत्रद्वार स्वत: ही पूर्णरूप से खुल जाएगा और उसके ब्लैडर में जितना भी मूत्र होगा, वह सारा बाहर निकल जाएगा। जमीन पर बैठकर लघुशंका करने से भी पूरा मूत्र बाहर निकलने में सहायता होती है। खड़े होकर लघुशंका करने से सारा मूत्र सरलता से बाहर नहीं निकलता।

शरीर की इस नाड़ी का संबंध अंडकोष से भी है। इस सत्य को स्वीकारते हुए आजकल डॉक्टर हर्निया जैसी बीमारी की रोकथाम के लिए इस नाड़ी को छेद देते हैं। इसका एक और लाभ यह है कि ऐसा करने से व्यक्ति का मूत्र शरीर के विषैले अंश लेकर सरलता से अंतिम बूँद तक उतर जाता है और उसे मूत्र संबंधी कोई रोग नहीं होता। आधुनिक डॉक्टर जो अब कर रहे हैं, हमारे ऋषि-मुनियों ने इन उपायों को हजारों वर्ष पूर्व जानकर मनुष्य के जीवन में सम्मिलित कर लिया था।

❑❑❑